बोधि-पथ

ISSN 2347-8004
Registration No.: DELBIL/2011/41024

Bodhi-Path

Half-Yearly Bilingual Buddhism, Philosophy Journal (UGC Approved)
जुलाई २०१८ अंक - *पंद्रहवां, द्विभाषिक छमाही पत्रिका*

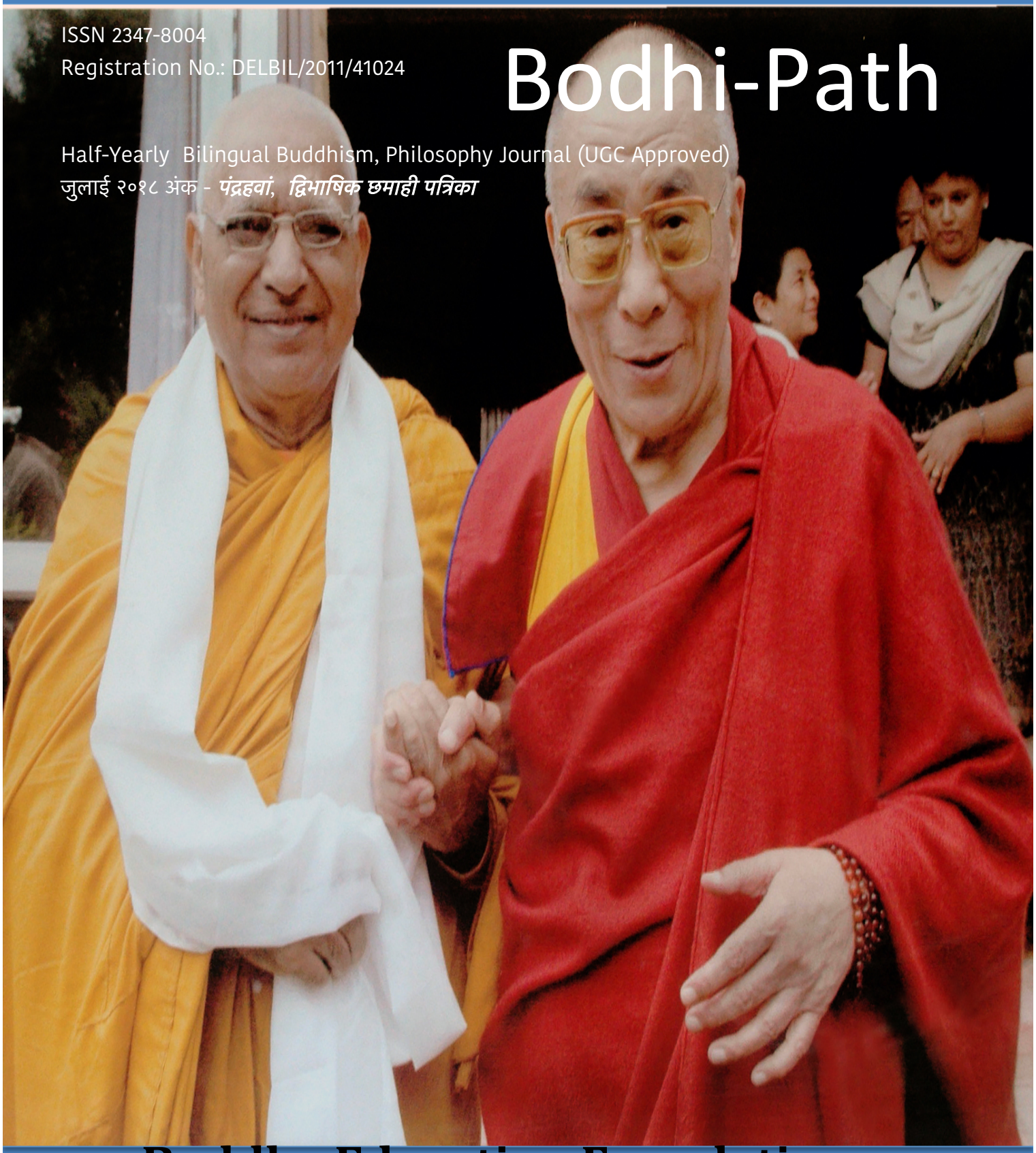

Buddha Education Foundation
Ph: 9968262935, 8447637374, Website: http://bodhi-path.com

ISSN 2347-8004

Bodhi-Path

Year 2018 July Issue Volume 15

Publisher
Bhikhu Vishwabandhu, Chairman
Buddha Education Foundation (Trust)

Patron
Prof. Nareshman, Bajracharya,
Vice-Chancellor of Lumbini Buddhist University

Advisors
Prof K.T. S. Sarao, HOD,
Deprtment of Buddhist Studies,
University of Delhi

Prof. Hira Paul Gangnegi, Deprtment of Buddhist Studies, University of Delhi

Dr I. N. Singh, Associate Professor,
Deprtment of Buddhist Studies,
University of Delhi

Dr. Subhra Barua Pavagadhi, Associate Professor, Deprtment of Buddhist Studies, University of Delhi

Dr. Ram Kumar Rana, Associate Professor, Deprtment of Buddhist Studies, University of Delhi

Editor
Dr Sanghmitra Baudh
Deprtment of Buddhist Studies,
University of Delhi

Co-Editor (English)
Dr Amita Kapoor, Associate Professor,
Shaheed Rajguru College of Applied Sciences for Women, University of Delhi

Technical Editor
Mr Narotam Singh
Author and Healer

Note: All the members of Editorial board are non-salried and can be changed by the publisher.

Table of Contents

Article	Authors	Pg No.
Editorial	Dr SanghMitra Baudh	i
बौद्धदर्शन में सम्यक्दृष्टि	डॉ संघमित्रा बौद्ध	1
हीनयान एवं महायान में निर्वाण की कल्पना	सुभम कुमार	3
त्रिरत्न	Bhikhu Prajnapal	8
राहुल सांकृत्यायन और बौद्ध धर्म	शशिकान्त	20
वर्तमान समय में दान का महत्त्व बौद्ध धर्म के परिप्रेक्ष्य में समीक्षात्मक अध्ययन	**दीपक कुमार**	23
डॉ॰ अम्बेडकर की भारतीय जल नीति व आधुनिक युग में प्रासंगिकता	रचना	28
भगवान बुद्ध की दुष्टि में नारी का अस्तित्व	Vijay Arora	35
Genesis of Drikung-bKa-brgyud tradition of Tibetan Buddhism	Thinlay Norboo	41
Brief of Saṅgālovāda Sutta	Razainda Si Ri	45
Buddhist Education on Environment	Tsering Tashi	49
Buddhist Tradition Among The Singpho Community In Assam	Mayuri Dihingia	54
Characteristics of Buddhist Arts in Nāgārjunakoṇḍa	Kazumi Okabe	58
Monastic vis-à-vis Social Dimension of *Paccekabuddha*:"A Theological Initiative in Buddhist Approach to Interfaith Dialogue"	Van Phuoc Bao	68
Rains Retreat And Robe Offering Ceremony	Sushma Shree	79
Locating the Icon and the Image – Contextualizing Buddhist Art and Patronage of Prasat Phimai in Northeast Thailand	Sama Haq	82
Personality Of Human Being & His Destiny In Buddhism	Dr. Seema Bharti	90

Disclaimer: All the views presented in the journal are of the authors. Journal bear no responsibility for them.

Website: www.bodhi-path.com
Email: baudhs@yahoo.com, buddhaedu@ymail.com , sanghmb@gmail.com
Contact: 9968262935, 8447637374

सम्पादकीय

भगवान् बुद्ध एक व्यवहार कुशल महामानव थे। उन्होंने विश्व की प्रत्येक समस्याओं को अच्छी प्रकार से समझा और उसके समाधान के लिए मार्ग भी प्रशस्त किया। लोगों की समस्या है दुःख ओर इसका समाधान हो जाना निर्वाण है, जो परम सुख का आनन्द है। इस सम्बन्ध में बुद्ध ने 'दो अतियों' को बताया है। वे हैं– **''कामसुखल्लिकानुयोगो''** तथा **''अत्तकिलमथानुयोगो।''** प्रथम 'अति' के कारण सामान्यजन कामसुखों में लिप्त होकर सुख की प्राप्ति की आशा करते हैं। पर यह सुख क्षणिक होने के कारण अन्ततोगत्वा दुःख उत्पन्न करता है। द्वितीय 'अति' के कारण कुछ व्यक्ति कामसुखों की असारता को जानकर आत्मपीड़न के मार्ग को ही सुख प्राप्ति का मार्ग जानकर अपनाते है, परन्तु इसके कारण जन्म से लेकर मृत्यु–पर्यन्त दुःख ही दुःख प्राप्त होता है। परन्तु बुद्ध ने कहा है कि इन दोनों के मध्य का मार्ग ही अति सुखदायक और लाभदायक है। जिस पर चलकर व्यक्ति इस जीवन में परम सुख का आनन्द ले सकते हैं। वह है 'मध्यम मार्ग' अर्थात् 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' इस मार्ग पर चलकर व्यक्ति धीरे–धीरे आर्य की अवस्था प्राप्त कर लेता है।

बुद्ध ने जो मार्ग दिखाया वह अत्यन्त सरल और सुद्ढ़ मार्ग था जिसके कारण भारतीय जन मानस और जीवन पर बौद्धधर्म की अमिट छाप पड़ी है। भारत के **भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ॰ सर्वपल्ली राधा कृष्णन्** ने लिखा ''हमारे लिए इस राष्ट्र में बुद्ध हमारी धार्मिक परम्परा के विलक्षण प्रतिनिधि हैं। भारत की मिट्टी पर उन्होंने अपने पद्चिन्ह तो छोड़े ही, साथ ही साथ उन्होंने विशिष्ट आचरणों और मान्यताओं के रूप में इस देश की आत्मा पर भी अपनी अमिट छाप छोड़ी है। बुद्ध के उपदेशों ने जहां विश्व के अन्य देशों में, वहां की परम्पराओं के अनुरूप ही स्वयं को विशिष्ट स्वरूपों में उभारा है। वहीं इस देश में, बुद्ध के अपने देश में, ये उपदेश हमारी संस्कृति की गहराइयों में उतर कर उसी का एक अभिन्न भाग बन गए है।''

बुद्ध ने 45 वर्ष के चारिका क्रम में लोगों के कल्याण के लिए धर्म का उपदेश दिया था और कहा कि आप लोग इस रस का स्वादन करके अन्य लोगों तक भी पहुँचाएं। बुद्ध का प्रथम उपदेश था– 'चार आर्य–सत्य' तथा 'आर्य अष्टांगिक मार्ग'। इनको धीरे–धीरे अभ्यास द्वारा अपने जीवन में उतारों और ग्रहण करो। इसके साथ ही साथ परम सूख का आनन्द लेकर जीवन को सुखमय बनाओं। इनका दूसरा उपदेश थ प्रतीत्यसमुत्पाद। इसका अर्थ है किसी कारण के ही द्वारा कोई कार्य उत्पन्न होता है। यदि कोई कारण न हो तो कार्य के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसे बुद्ध ने भव–चक्र की संज्ञा ही है। अर्थात् एक के उत्पन्न होने पर दूसरा उत्पन्न होता है तथ एक के निरूद्ध होने पर दूसरा निरूद्ध हो जाता है। यह चक्र जन्म से लेकर मृत्यु तक चलता रहता है। यदि यह भव–चक्र समाप्त हो जाये तो पुर्नजन्म भी समाप्त हो जाता है।

भगवान् बुद्ध का यह संदेश जहां कहीं भी पहुंचा, इसने अहिंसा, सहनशीलता, आध्यात्मिक, विनम्रता आदि का उपदेश दिया। इससे मानव जाति में सभी प्राणियों के प्रति मैत्री और करूणा की वर्षा होने लगी।

प्रस्तुत अंक में बुद्ध के उपदेशामृतों से समन्वित विद्वजनों के लेखों को प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हुए हम अपार हर्ष की अनुभूति कर रहे हैं। पत्रिका के समृद्ध सम्पादन में उन लेखकों व विद्वानों का हम âदय से आभार व्यक्त करते हैं जिनके लेखों एवं बहुमूल्य सुझाव द्वारा यह कार्य पूर्ण किया गया। हमें पूर्ण विश्वास है कि आप लोगों के सहयोग से प्रस्तुत पत्रिका का उत्तरात्तर विकास होता रहेगा।

डॉ संघमित्रा बौद्ध

Be a light into yourself

Bodhi Path, July 2018 Issue 15
ISSN 2347-8004

बौद्धदर्शन में सम्यक्दृष्टि

डॉ संघमित्रा बौद्ध, बौद्ध अध्ययन विभाग, दिल्ली विश्व विद्यालय, दिल्ली।
ई–मेल : sanghmb@gamil.com

बौद्धदर्शन में 'सम्यक्दृष्टि' का विशिष्ट महत्व है। सम्यक्दृष्टि से ही कल्याण का मार्ग प्रशस्त होता है। बौद्धदर्शन में आर्य अष्टांगिक मार्ग को दुःख निरोधगामी मार्ग कहा गया है। यह मार्ग आठ अंगो से समन्नागत है तभी इसका नाम आर्य अष्टांगिक मार्ग है। यह मध्यमा प्रतिपदा भी है। इस आर्य अष्टांगिक मार्ग में प्रथम सम्यक्दृष्टि है। यहाँ दृष्टि से पूर्व 'सम्यक्' शब्द प्रयुक्त है क्योंकि दृष्टि या दर्शन मिथ्या भी होता है। 'सम्यक्' शब्द से मिथ्यादृष्टि का परिहार हो जाता है।

सम्यक्दृष्टि — जीव, अजीव आदि सभी तत्वों को यथार्थ ग्रहण करने वाली दृष्टि सम्यक्दृष्टि है। यह दृष्टि जिसे प्राप्त होती है, वह सम्यक्दृष्टि कहलाता है। सम्यक्दृष्टि जिस व्यक्ति को प्राप्त हो जाती है उसे निर्वाणगमन का आरक्षण पत्र उपलब्ध हो जाता है। सम्यकत्व एक प्रकार से आत्मविकास की सुदृढ़ पृष्ठभूमि है, जिस पर आरूढ़ होकर ही व्यक्ति पूर्ण विकास की स्थिति तक पहुंच सकता है। प्रमुख रूप से दृष्टि तीन प्रकार कर बतलाई गई है। सम्यक्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि, सत्कायदृष्टि। नश्वर शरीर को आत्मा मानकर उसके प्रति मोह रखता है, वह सत्कायदृष्टि है।[1]

मिथ्यादृष्टि — जो दृष्टि जीव, अजीव आदि तत्वों को अयथार्थ ग्रहण करता है वह मिथ्यादृष्टि है। यह दृष्टि जिस व्यक्ति को होती है वह 'मिथ्यादृष्टि' कहलाता है। जिस प्रकार धतूरा आदि फल के खाने वाले व्यक्ति की दृष्टि दूषित हो जाने से वह वस्तुओं को विपरित देखता है, उसी प्रकार मोह से वशीभूत जो पदार्थों को विपरित देखता है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाती है।[2]

बौद्ध परम्परा में सम्यक्दृष्टि — सम्यक् दृष्टि है सम्यक् दर्शन। भगवान् बुद्ध का दर्शन सम्यक्दृष्टि मूलक था। यहाँ सम्यक्दृष्टि से तात्पर्य यथार्थ ज्ञान से है, इसमें हम बुद्ध के दर्शन को पाते है। यह उनका यथार्थ ज्ञान चार आर्यसत्यों के रूप में था, जिसमें धर्म दर्शन सभी प्रत्ययों का समावेश हो जाता है। अर्थात् जो अकुशल को जानता है, अकुशल मूल को जानता है। कुशल को जानता है, कुशल मूल को जानता है वह सम्यक् दृष्टि है। जो धर्म स्वभाव को जानता है वह सम्यक् दृष्टि है। यह धर्म स्वभाव क्या है ?

बुद्ध के दर्शन में तिलक्खण की देसना सभी धर्मों के सत्य स्वभाव को प्रकाशित करता है। तिलक्खण है तीन लक्षण। किसका लक्षण ? धर्म का। जो कुछ भी धर्म है उसका स्वभाव ही लक्षण है। इसी के आधार पर भगवान् बुद्ध द्वारा कहा गया है –

सभी संस्कार अनित्य है,
सभी संस्कार दुःख है,
सभी धर्म अनात्म है।

जो कुछ भी धर्म लोक में है। वे दो प्रकार के है– संस्कृत और असंस्कृत । घर, पुस्तक, वस्त्र इत्यादि धर्म निर्मित हैं। अनेक धर्मों से वे सम्भूत (जुड़ के) हैं। तभी ये धर्म संस्कृत हैं। निर्वाण किसी भी पदार्थ से निर्मित नहीं हैं। तभी निर्वाण असंस्कृत है। इन धर्मों के स्वभाव का कथन तिलक्खण के द्वारा किया गया है।

1. सभी संस्कार अनित्य है – इस कथन के द्वारा कहा गया है कि जो कुछ भी संस्कृत धर्म हैं वे अनित्य हैं। सभी संस्कार क्षण–क्षण उत्पन्न होते हैं एवं विनष्ट होते हैं जो उत्पन्न होता है वह विनष्ट हो जाता है। सभी संस्कृत धर्मों का यही स्वभाव है।
2. सभी संस्कार दुःख है – अर्थात् सभी संस्कार दुक्खजनक है। मनुष्य वस्तुओं के प्रति तृष्णा रखता है। यदि वह उस वस्तु को प्राप्त नहीं करता तो उसे अत्यन्त दुक्ख होता है। इस तरह जहाँ हम तृष्णा करते हैं, मोह उत्पन्न करते हैं वह हमसे क्षण–क्षण दूर चला जाता है। जिन्हें हम प्रिय रूप में ग्रहण करते हैं, वे भी अनित्य है। तभी भगवान् के द्वारा कहा गया है ''सभी संस्कार दुःख है। ''
3. सभी धर्म अनात्म है – अर्थात् सभी धर्म आत्म एवं आत्मयीयभाव से विरहित है। बुद्ध ने कहा है कि जिन्हें हम पुरूष, पुद्गल या मनुष्य कहते हैं वे पंचस्कन्धों के समूह हैं, वे पंचस्कन्ध हैं – रूपस्कन्ध, वेदनास्कन्ध, संज्ञास्कन्ध, संस्कारस्कन्ध एवं विज्ञानस्कन्ध। सभी परिणाम धर्म उत्पन्न होते हैं एवं विनष्ट होते हैं उनमें न कोई स्कन्ध आत्मा है न उनमें आत्मा है। निर्वाण अज्ञात एवं अनिर्मित है वहाँ भी आत्मा नहीं है। इसलिए सभी धर्म अनात्म है।

इस प्रकार भगवान् बुद्ध द्वारा त्रिलक्खण प्रकासित है। उसको जानकर मनुष्य तृष्णा को विनष्ट करता हैं तृष्णा को विनष्ट करके वह परम सुख निर्वाण का साक्षत्कार करता है।

वस्तुतः सम्यक्दृष्टि का क्षेत्र विस्तृत है। संक्षेप में बुद्ध की शिक्षा को यथार्थ रूप में धारण करना सम्यक्दृष्टि है। इसकी व्याख्या करते हुए भदन्त आनन्द कौशल्यायन जी ने कहा है ''दुराचरण को दुराचरण समझना। सदाचरण को सदाचरण समझना। लोभ, मोह, द्वेष का मूल कारण समझना। अलोभ, अमोह, अद्वेष को सदाचरण का मूल कारण समझना। चार आर्यसत्यों को समझना। दस संयोजनो से मुक्त होन का प्रयास करना। आत्मा को लेकर किसी दृष्टि में नहीं लगना। प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान को यथार्थ रूप में समझाना सम्यक्दृष्टि है।''[3]

सम्यक्दृष्टि के साथ आर्य अष्टांगिक मार्ग तथा प्रतीत्यसमुत्पाद का पालन करना अनिवार्य है। जिस प्रकार कोई थका व्यक्ति मार्ग में कुआं पा जाए, लेकिन बाल्टी एवं डोर के अभाव में प्यास नहीं बुझा सकता है।[4] प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान को आर्यज्ञान कहा गया है, अच्छी तरह देखा जाना कहा गया है।[5] प्रतीत्यसमुत्पाद के ज्ञान के बाद आर्यश्रावक की दृष्टि सम्यक् दर्शन सम्पन्न सद्धर्म को प्राप्त, शैक्ष्य, ज्ञानों से युक्त, धर्म के स्रोत में आया हुआ, अमृत के द्वार पर खड़ा हुआ कहा जा सकता है। श्रमण और ब्राह्मण कहलाने का अधिकारी होता है।[6] सम्यक्दृष्टि को निर्वाण की ओर ले जाने वाला कहा गया है।[7]

इस प्रकार हम देखते हैं कि बौद्धदर्शन में 'सम्यक्दृष्टि' का विशेष महत्व है। सम्यक्दृष्टि हमें सही विचार देता है। जैसे गन्तव्य में पहुँचने के लिए पहले मार्ग चुना जाता है। यदि मार्ग ही गलत चुना जाएगा, तो गन्तव्य तक नहीं पहँचा जा सकता। इसलिए सम्यक्दृष्टि के महत्व को स्वीकृत करके यथार्थज्ञान को सम्यक्दृष्टि माना गया है।

सन्दर्भ संकेत :

1. तीर्थंकर, बुद्ध और अवतार–एक अध्ध्यन, डॉरमेश चन्द्र गुप्त
2. पालि एवं प्रकृत विद्या–एक तुलनात्मक अध्ययन, डॉ विजयकुमार जैन
3. बौद्ध धर्म : एक बुद्धिवादी अध्ययन, भदन्त आनन्द कौशल्यायन
4. संयुत्तनिकाय पालि, भाग 2, पृ 98–101
5. वही पृ 58
6. वही पृ 38–40
7. संयुत्तनिकाय पालि, भाग 4, पृ 162

हीनयान एवं महायान में निर्वाण की कल्पना

सुभम कुमार
शोध छात्र,
बौद्धअध्ययन विभाग,
नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा
ईमेल–kumarsubham599@gmail.com

निर्वाण के संबंध में हीनयान और महायान की कल्पनाओं में काफी भिन्नता है। बौद्धधर्म का सभी सम्प्रदाय निर्वाण के संबंध में अपना अलग मत पतिपादित किया है। निर्वाण भावरूप है या अभावरूप। इस विषय को लेकर बौद्ध दर्षन में पर्याप्त मीमांसा की गई है।

निकायों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि निर्वाण क्लेषाभाव रूप है। जब क्लेष के आवरण का सर्वथा निरोध हो जाता है तब निर्वाण की अवस्था का उदय होता है। इसे सुख रूप भी बतलाया गया है। परन्तु अधिकांष बौद्धनिकाय निर्वाण को अभावात्मक ही मानता है। मिलिन्द प्रष्न में निर्वाण के सुस्पष्ट करते हुए कहा गया है कि निरोध हो जाना ही निर्वाण है। संसार के सभी अज्ञानी प्राणी इन्द्रियों और काम–विषयों में रमे होने के कारण विभिन्न प्रकार के कष्ट पाते हैं। परन्तु ज्ञानी आर्य साधक इन्द्रियों और विषयों में लिप्त नहीं होते हैं और न उसमें आनन्द लेते हैं, फलस्वरूप उसकी तृष्णा निरोध हो जाता है। तृष्णा के निरोध के साथ उपादान का तथा भव का निरोध हो जाता है। इस प्रकार पुर्नजन्म के समाप्त होते ही सभी दुःख का निरोध हो जात है। अन्ततः तृष्णादिक क्लेषों का निरोध हो जाना ही निर्वाण है। मिलिन्द प्रष्न में बड़े ही सुन्दर उपमा के द्वारा निर्वाण को सुस्पष्ट किया है। कहा गया है कि जिस प्रकार जलती हुई आग की लपट बुझ जाने पर दिखलाई नहीं जा

सकती, उसी प्रकार निर्वाण प्राप्त हो जाने के बाद वह व्यक्ति दिखलाया नहीं जा सकता।[1] महाकवि अष्वघोष ने निर्वाण को सुस्पष्ट इन षब्दों में किया है –

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनि गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिषं न काञ्चिद विदिषं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति षान्तिम्।
तथा कृती निर्वृतमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिषं न काञ्चिद् विदिषं न काञ्चित् क्लेषक्षयात् केवलमेति षान्तिम्।।[2]

अर्थात् बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिषा, न विदिषा में प्रत्युत स्नेह (तेल) के क्षय होने से वह केवल षान्ति को प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष न तो कहीं जाता है, न पृथ्वी पर, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिषा में, न किसी विदिषा में, केवल क्लेष के क्षय हो जाने पर षान्ति प्राप्त कर लेता है। निर्वाण की सामान्य कल्पना यही है। ज्ञान के उदय होने से जब अविद्या के बन्धन स्वतः समाप्त हो जाते हैं उस समय अर्हत् की अवस्था का नाम निर्वाण है। यही अन्तिम लक्ष्य है जिसके लिए भगवान् तथागत ने अपने धर्म का उपदेष दिया है। निर्वाण इसी लोक में प्राप्त होता है। वेदान्त में मुक्त पुरुष की जो कल्पना है वही कप्पना निर्वाण प्राप्त अर्हत् की है। फिर भी निर्वाण के स्वरूप के विवेचन में हीनयान तथा महायान धर्म के अनुयायियों में अन्तर है। सामान्य रूप से कहा जा सकता है कि हीनयान निर्वाण को दुःख का अभावमात्र मानता है और महायान उसे आनन्दरूप स्वीकारता है। परन्तु हीनयान के सम्प्रदायों के अन्दर भी उनके मतों में भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

स्थविरवादियों की दृष्टि में निर्वाण मानसिक तथा भौतिक जीवन का चरम निरोध है। निर्वाण प्राप्त होने के बाद व्यक्तित्व का पूर्णतः निरोध हो जाता है। निर्वाण षब्द का अर्थ है – बुझ जाना, षांत हो जाना। जिस प्रकार दीपक तब तक जलता रहता है जब तक उसमें वत्ती और तेल मौजूद रहता है। लेकिन तेल और वत्ती के नष्ट होते ही दीपक स्वतः षान्त हो जाता है, उसी प्रकार तृष्णा आदि क्लेषों के विराम हो जाने पर जब यह भौतिक जीवन अपने चरम अवसान पर पहुंच जाता है, यही अवस्था निर्वाण कहलाता है।

वैभाषिकों के मत में भी निर्वाण अभावात्मक है। इनका मत स्थविरवादियों के समान ही है। वैभाषिकों के अनुसार निर्वाण प्रतिसंख्यानिरोध है, अर्थात् विषुद्ध प्रज्ञा के सहारे सांसारिक स्राश्रव धर्मों तथा संस्कारों का जब अन्त हो जाता है तब वही निर्वाण कहलाता है।[3] निर्वाण नित्य, असंस्कृत धर्म, स्वतंत्र भाव तथा पृथक्भूत सत्य पदार्थ है।[4] निर्वाण अचेतन का सूचक है अथवा चेतन अवस्था का। इस संबंध में वैभाषिकों में एकमत नहीं दिखाई पड़ता। तिब्बती परम्परा से ज्ञात होता है कि वैभाषिक लोग निर्वाण की प्राप्ति के अवसर पर चेतना का पूर्णतः निरोध मानते थे जो क्लेषोत्पादक संस्कारों के द्वारा प्रभावित

[1] मिलिन्द प्रष्न, पृ॰ 92.
[2] आचार्य अष्वघोष – सौदरनन्द, 16/28, 29.
[3] प्रतिसंख्यानमनास्रवा एव प्रज्ञा गृह्यते तेन प्रज्ञाविषेषेण प्राप्यो निरोधः इति प्रतिसंख्यानिरोधः। यषोमित्र – अभिधर्मकोष व्याख्या, पृ॰ 16.
[4] द्रव्यं सत् प्रतिसंख्यानिरोधः – सत्यचतुष्टय–निर्देष–निर्दिष्टत्वात् मार्गसत्यवत् इति वैभाषिकाः। वही, पृ॰ 17.

होती है। इसका अभिप्राय यह है कि आश्रवों से किसी प्रकार भी प्रभावित न होने वाली कोई चेतना अवष्य है जो निर्वाण की प्राप्ति होने के बाद भी विद्यमान रहती है। वैभाषिकों का यह मत एकांगी था। वैभाषिकों का सामान्य मत यही है कि यह अभावात्मक है। संघभद्र की 'तर्कज्वाला' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मध्यभारत में वैभाषिकों का एक ऐसा सम्प्रदाय था जो 'तथता' नामक चतुर्थ असंस्कृत धर्म मानता था। यह तथता वैषेषिकों के अभाव पदार्थ के समान था। निर्वाण की कल्पना के लिए ही अभाव के चारों भेद – प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्यभाव और अत्यन्ताभाव की कल्पना की गई थी। यह तथता महायान के परमार्थ सत्य के लिए प्रयुक्त तथता षब्द से भिन्न है। इस प्रकार वैभाषिकों के मत में निर्वाण क्लेषाभाव रूप माना जाता है। परन्तु अभाव होने पर भी यह सत्तात्मक पदार्थ है। वैभाषिक लोग भी वैषेषिकों के समान 'अभाव' को पदार्थ मानते थे। भाव पदार्थों के समान अभाव भी स्वतंत्र पदार्थ था।

सौत्रान्तिक मत के अनुसार निर्वाण को विषुद्ध ज्ञान के द्वारा उत्पन्न होनेवाले भौतिक जीवन का चरम निरोध मानते थे। इस अवस्था में भौतिक सत्ता किसी प्रकार विद्यमान नहीं रहती। इसलिए यह उस सत्ता का अभाव माना गया है। इस विषय में इनका मत वैभाषिकों से बिल्कुल अलग है। वैभाषिक लोग तो निर्वाण को स्वतः सत्तावान् पदार्थ और वस्तु नहीं मानते। निर्वाण की प्राप्ति के बाद सूक्ष्म चेतना विद्यमान रहती है, जो परम षांति में लिप्त रहती है। भोट देष की परम्परा से ज्ञात होता है कि सौत्रान्तिकों की एक उपषाखा ऐसी थी जो निर्वाण को भौतिक सत्ता तथा चेतना का उपषम मानती थी। उनके मतानुसार निर्वाण लाभ करने वाले अर्हत् को भौतिक सत्ता का ही पूर्णतः निरोध नहीं हो जाता अपितु चेतना का भी विनाष हो जाता है। इनके अनुसार निर्वाण के बाद कुछ भी षेष नहीं रहता अर्थात् न तो जीवन और न ही चेतना का कोई अंष ही षेष रहती है। इस प्रकार यह निर्वाण नितान्त अभावात्मक है।

निर्वाण की हीनयानी कल्पना ब्राह्मण दार्षनिकों में न्याय–वैषेषिक की मुक्ति की कल्पना के समान है। गौतम ने सुस्पष्ट षब्दों में कहा है कि दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग (मुक्ति) कहते हैं।[5] अत्यन्त का अर्थ है चरम अवसान। जब तक वासना आदि आत्मगुणों का नाष नहीं होता, तब तक दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए आत्मा के नवों विषेष गुणों का (वुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार) मूलोच्छेद हो जाता है। मुक्त दषा में आत्मा अपने विषुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है और विषेष गुणों से विरहित रहता है। वह छह प्रकार के ऊर्मियों से भी रहित हो जाता है। ऊर्मि का अर्थ है क्लेष। भूख–प्यास प्राण के, लोभ–मोह चित्त के, षीत–आतप षरीर के। ये छहों क्लेष दायक होने के कारण ऊर्मि कहलाते हैं। मुक्त आत्मा इन छहों ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेता है और सुख, दुःख आदि सांसारिक बन्धनों से विमुक्त हो जाता है। उस अवस्था में दुःख के समान सुख का भी अभाव आत्मा में रहता है। इसलिए नैयायिक लोग मुक्ति को दुःख का अभाव रूप मानते हैं।

[5] तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः। न्यायसूत्र 1/1/22.

महायान के अनुसार मुक्ति को वास्तविक रूप में निर्वाण को स्वीकार करने के पक्ष में कथमपि नहीं है। उनका कहना है कि इस निर्वाण से केवल क्लेषावरण का ही क्षय होता है और ज्ञेयावरण की सत्ता विद्यमान ही रहती है। हीनयानी की दृष्टि में राग–द्वेष की सत्ता पंचस्कन्ध के रूप से अथवा उससे भिन्न प्रकार से आत्मा की सत्ता मानने के ऊपर निर्भर है। आत्मा की सत्ता रहने पर ही मनुष्य के हृदय में यज्ञ आदि में हिंसा करने की प्रवृत्ति होती है।[6] परलोक में आत्मा को सुख पहुंचाने के लिए ही मनुष्य विभिन्न प्रकार के अकुषल कर्मों का सम्पादन करता है। इसलिए समस्त क्लेष और दोष इसी आत्मदृष्टि (सत्काय दृष्टि) के विषय परिणाम है। अतः आत्मा का निरोध करना क्लेष के नाष उत्तम उपाय है। इसे पुद्गल नैरात्म्य कहते हैं। हीनयान पुद्गल नैरात्म्य को स्वीकारता है, लेकिन इस नैरात्म्य के ग्रहण करने से केवल क्लेषावरण का ही क्षय होता है। इससे भिन्न दूसरा आवरण की सत्ता को ज्ञेयावरण कहा जाता है। विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि में इन दोनों आवरणों का विस्तृत वर्णन किया गया है।

आवरणों का यह द्विविध भेद दार्षनिक दृष्टि से विषेष महत्वपूर्ण स्थान है। महायान के अनुसार हीनयानी निर्वाण में केवल पहिले आवरण का ही क्षय होता है। परन्तु षून्यता के ज्ञान होने से दूसरे प्रकार के आवरण का भी क्षय होता है। तब तक इस दूसरे आवरण का क्षय नहीं होता, तब तक निर्वाण हो नहीं सकता। हीनयानी उक्त मत को स्वीकार नहीं करते हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अर्हतों का ज्ञान अनावरण हो जाता है परन्तु महायान की यह कल्पना नितान्त मौलिक है। हीनयान के अनुसार अर्हत् पद की प्राप्ति ही मानव जीवन परम लक्ष्य है। परन्तु महायान के अनुसार बुद्धत्व प्राप्ति ही जीवन का उद्देष्य है। इसी उद्देष्य की भिन्नता के कारण ही निर्वाण की कल्पना में भी भेद है।

नागार्जुन ने माध्यमिक कारिका के पचीसवें परिच्छेद में निर्वाण का विष्लेषण बड़े सुन्दर ढ़ंग से किया है। उन्होंने कहा है कि निर्वाण न तो छोड़ा जा सकता है और न प्राप्त किया जा सकता है। यह न तो उच्छिन्न होनेवाला पदार्थ है और न षाष्वत पदार्थ है। न तो निरुद्ध है और न यह उत्पन्न है। उत्पत्ति होने पर ही किसी वस्तु का निरोध होता है। यह दोनों से भिन्न है –

अप्रहीणमसम्प्राप्तमनुच्छिन्नमषाष्वतम्।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते।।

चन्द्रकीर्ति ने इस कारिका की व्याख्या करते हुए कहा है कि राग के समान निर्वाण का प्रहाण नहीं हो सकता और न सात्त्विक जीवन के फल के समान इसकी प्राप्ति ही संभव है। हीनयानियों के निर्वाण के समान यह नित्य नहीं है। यह स्वभाव से ही उत्पत्ति और विनाष–रहित है और इसका लक्षण षब्दतः निर्वचनीय नहीं। तब तक इस प्रकार की सत्ता बनी रहती है तब तक निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। महायानियों के अनुसार निर्वाण और संसार में कोई भेद नहीं है। अतः कल्पना–जाल के क्षय होने का नाम ही निर्वाण है।

---

[6] सत्कायदृष्टिप्रभवानषेषान्, क्लेषांष्च दोषांष्च धिया विपष्यन्।
आत्मानमस्या विषयष्च बुद्ध्वा, योगी करोत्यात्मानिषेधमेव।।
चन्द्रकीर्ति – माध्यमिकावतार, 6/120; माध्यमिक वृत्ति, पृ॰, 344.

नागार्जुन ने निर्वाण को भाव पदार्थ मानने वाले तथा अभाव पदार्थ मानने वाले दार्षनिकों के मत की आलोचना की है। उसके मत में निर्वाण भाव तथा अभाव दोनों से परे पदार्थ है। यह अनिर्वचनीय है। यह परम तत्त्व है। इसी को भूतकोटि या धर्म धातु कहा जाता है।

हीनयान तथा महायान के ग्रन्थों के विष्लेषण से निर्वाण के संबंध में सामान्य कल्पना निम्न प्रकार से द्रष्टव्य किसा जा सकता है –

1. यह षब्दों के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। यह असंस्कृत धर्म है, अतः न तो इसकी उत्पत्ति है, न विनाष है और न परिवर्तन है।

2. इसकी अनुभूति अपने ही अन्दर स्वतः की जा सकती है। इसी से योगाचारी लोग 'प्रत्यात्मवेद्य' कहते हैं और हीनयानी लोग 'पञ्चर्त्त वेदितव्यं' षब्द के द्वारा कहते हैं।

3. यह भूत, वर्तमान और भविष्य, इन तीनों कालों के बुद्धों के बुद्धों के लिए एक है और सम है।

4. मार्ग के द्वारा निर्वाण की प्राप्ति होती है।

5. निर्वाण में व्यक्तित्व का सर्वथा निरोध हो जाता है।

6. दोनों मत वाले बुद्ध के ज्ञान तथाषक्ति को लोकोत्तर, अर्हत् के ज्ञान से बहुत ही उन्नत मानते हैं। महायानी लोग अर्हत् के निवारण को निम्नकोटि का तथा असिद्धावस्था का सूचक मानते हैं। इस बात को हीनयानी स्वीकार नहीं करते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि हीनयान मत में तब भिक्षु अर्हत् की दषा प्राप्त कर लेता है तब उसे निर्वाण की उपलब्धि होती है। साधारणतया प्राणी पूर्व कर्मों के कारण उत्पन्न होनेवाले धर्मों का संघातमात्र है। वह अनन्त काल में इस संषय में पड़ा हुआ है कि उसके अन्दर आत्मा नामक कोई चेतन पदार्थ है। अष्टांगिक मार्ग के पालन करने से प्रत्येक व्यक्ति को वस्तुओं की अनित्यता का अनुभव हो जाता है। जिन स्कन्धों से उसका देह निर्मित हुआ है वे स्कन्ध विषिष्ट रूप से उसी के ही नहीं है। संसार के प्रत्येक प्राणी उन्हीं स्कन्धों से बने हुए हैं। इस विषय का जब पूर्णतः ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब वह निर्वाण पद को प्राप्त हो जाता है। निर्वाण वह मानसिक दषा है जिसमें भिक्षु जगत् के अनन्त प्राणियों के साथ अपना भेद नहीं कर सकता। उसके व्यक्तित्व का लोप हो जाता है तथा सब प्राणियों के उकत्व की भावना उसके ह्रदय में जागृत हो जाती है। साधारण रूप से हीनयानी के अनुसार यही निर्वाण की कल्पना है। इससे बिल्कुल भिन्न महायानी लोग धर्मों की सत्ता मानते ही नहीं। वे लोग केवल धर्मकाय या धर्मधातु को ही एक सत्य मानते हें। बुद्ध को छोड़कर जितने प्राणी हैं वे सब कल्पना–जाल में जकड़े हुए हैं। पुत्र और धन को रखने वाला व्यक्ति उसी प्रकार संषय में पड़ा हुआ है जिस प्रकार सुख और षांति के सूचक निर्वाण को पानेवाला हीनयानी अर्हत्। दोनों असत्य में सत्य की भावना कर कल्पना के प्रपंच में पड़े हुए हैं। हीनयान सम्प्रदाय में निर्वाण की एक परम सत्ता है। उसे छोड़कर संसार के सभी पदार्थ कल्पनाप्रसूत हैं। जिस क्षण में प्राणी इस बात का अनुभव करने लगता है कि वही सत्य है, संसार निर्वाण से अलग नहीं है अर्थात् दोनों एक ही हैं। उस क्षण में वह बुद्धत्व को ग्रहण कर लेता है। उसे ज्ञान हो जाता है कि संसार के सभी वस्तु

जो दृष्यवान हैं वह पदार्थ आत्मषून्य है, इसका भी ज्ञान होना परमावष्यक है। जब इस ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब महायानी कल्पना के अनुसार निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।

त्रिरत्न

Bhikhu Prajnapal
Research Assistant
Pali-Hindi Dictionary
Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda

बुद्ध का वचन जीवन के व्यावहारिक पक्ष पर आधारित है इसलिए लोगों ने बौद्ध धर्म को जीवन जीने की कला कहा है। दुनिया के सबसे ज्यादा विष्वविद्यालयों में बुद्धवचन पढ़ाया जाता है क्योंकि बौद्ध धर्म बुद्धिवादी अध्ययन है। बौद्ध धर्म में अंधश्रद्धा, अंधविष्वास और कर्मकाण्ड का कोई स्थान नहीं है। जो बातें वैज्ञानिक होती हैं उसे ज्यादा से ज्यादा लोग अध्ययन का विषय बनाते हैं। बौद्ध धर्म परिस्थितिजन्य सत्य से ऊपर उठकर सार्वभौमिकता का अध्ययन करता है। बुद्ध ने कहा, जिसमें विष्व धर्मता है, वही धर्म है। बुद्ध ने अपने अन्वेषण में धर्मता का अध्ययन किया और धर्म की सार्वभौमिकता का संदेष दिया। इस धर्मता के संदेष को जन–जन तक पहुंचाने के लिए संघ का निर्माण किया गया। यह संघ आज भी बौद्ध देषों में बौद्ध विहार के रूप में देखा जाता है इसलिए बुद्ध की बोधिप्राप्ति, तदुपरांत धर्मोपदेष एवं जन–सामान्य को सुलभ बनाने हेतु संघ का निर्माण बौद्ध धर्म में त्रिरत्न कहा जाता है। बुद्ध, धर्म और संघ बौद्ध धर्म का त्रिरत्न है। कुमार सिद्धार्थ द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति से बुद्ध का जन्म हुआ, बुद्धत्व को जन–जन तक पहुंचाने के लिए संघ का निर्माण किया गया। यही त्रिरत्न बौद्ध धर्म का मूल आधार है। बुद्ध के उपदेष में पराषक्ति का कहीं स्थान नहीं है। ऐसी शक्तियों का निषेध है, ये शक्तियां काल्पनिक हैं। बुद्ध ने जनता की अन्तःषक्तियों को जागृत करने का प्रयास किया। इस प्रकार की शक्ति हर व्यक्ति के अन्दर छिपी हुई आत्मबल है, जो जीवन में सफलता की कुंजी है। आत्मषक्ति का विकास शील आचरण से होता है। इसलिए व्यक्ति को शील आचरण सम्पन्न होना चाहिए न कि कर्मकाण्ड सम्पन्न। बौद्ध धर्म में रुचि रखने वाले सरण गमन करते हैं। ये तीन सरण– बुद्ध, धर्म और संघ के रूप में शील आचरण को समृद्ध करने के लिए आवष्यक है। बौद्ध जगत के हर उपासक त्रिरत्न और पंचषील को अपना धार्मिक कृत्य मानते हैं। आज भारत में बौद्ध धर्म को समझने की उत्सुकता जागृत हुई है, तो त्रिषरण और पंचषील को समझना आवष्यक है।

बुद्धिवादी अध्ययन– बौद्ध धर्म एक बुद्धिवादी अध्ययन है। इसमें कर्मकाण्ड, अंधविष्वास और बाह्याडम्बर नहीं है। यहां सत्य का अन्वेषण है, जिस सत्य तक स्वयं प्रयत्न कर पहुंचा

जा सकता है। किसी के सहारे की आवष्यकता नहीं। केसमुHसुH से ज्ञात होता है कि चारिका करते भगवान बुद्ध एक दिन कलाम क्षत्रियों के गांव पहुंचे। कलाम क्षत्रियों ने बुद्ध से प्रष्न किया– "बहुत सारे श्रमण ब्राह्मण हमारे गांव में आते हैं और यह दावा भी करते हैं कि मेरा मत अंतिम सत्य है इससे ऊपर या अन्य कुछ सत्य नहीं है। शेष जो कोई बतलाता है, वह मिथ्या है।" तब बुद्ध ने कलाम क्षत्रियों से कहा– "बहुत पुराने समय से चली आ रही होने के कारण किसी बात में विष्वास मत करो, किसी धर्म ग्रंथ में लिखी हुई है इसलिए भी विष्वास मत करो। किसी बात को इसलिए भी स्वीकार मत करो कि उसे बहुत सारे लोग मानते हैं। किसी बात को इसलिए भी स्वीकार मत करो कि वह असाधारण प्रतीत होता है बल्कि उसे अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसो और जब ऐसा लगे कि वह तुम्हें अपने लिए और सभी के लिए हितकर है तो उसे स्वीकार करो और जीवन में उतारो।"[7] इसलिए बौद्ध धर्म किसी भी बात को बिना छान–बीन किये स्वीकार करने के लिए नहीं कहता। यह नहीं कहता कि किसी के समझाने से उस पर विष्वास करो। किसी पर विष्वास करना पहले अपने आप को धोखा देना फिर बाद में दूसरों को धोखा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। किसी पर विष्वास ढोंग के लिए एक श्रुति मधुर शब्द है जो किसी संप्रदाय का हो सकता हे, किसी धर्म या सत्यान्वेषी के हित में नहीं। बुद्ध ने कलामों को दिये इस उपदेष के माध्यम से भारतीय समाज में व्याप्त बाह्याडम्बर, कर्मकाण्ड और अंधविष्वास पर प्रहार किया है। जो इस प्रकार है–

1. **मा अनुस्सवेन–** परंपरा से सुनी हुई बात अनुश्रवण है और मा निषेधार्थक है। यह किंवदंती है, जिस कथन को सुनते चले आ रहे हैं और उसे प्रमाणिक मान रहे हैं। वेद श्रुति है, जिसे अनुश्रवण कर संजोया गया है, बुद्ध प्रमाणिक नहीं मानते थे। उसमें अनेक परिवर्तनों की आवष्यकता थी। बुद्ध सुनी–सुनायी बातों को मानने के पहले सोचने और उपयोगी होने पर उसे मानने के लिए कहते थे। आज भी वास्तविक जीवन में कुछ घटनायें अनुश्रवण मात्र से मानते हैं, जिसका वैज्ञानिक आधार शून्य है। अनुश्रवण से आई हुई कुछ कुरीतियां या अव्यवहारिक कृत्य, जो दैनिक जीवन में देखा जाता है, जिसका वैज्ञानिक आधार नहीं होता है, पर उन कृ त्यों को जरूर करते हैं, बुद्ध ऐसे बातों को करने के पहले सोचने के लिए कहते हैं। यथा– श्मषान घाट पर भूत–प्रेत का नाचना, शाम में दरवाजा बंद करने से लक्ष्मी का नाखुष होकर लौट जाना, रोग आ जाने पर गोरैया–डिहवाल जैसे देवी–देवताओं की पूजा करने से रोगी को चंगा हो जाना आदि ऐसे क्रिया–कलाप है जो अनुश्रवण से हमारे पास आते हैं और पीढ़ी–दर–पीढ़ी उसके चक्कर में लगे रहते हैं। प्लेग, हैजा और चेचक जैसे रोग के आने पर यज्ञ करना अनुश्रवण के द्वारा किया गया रोग–निरोधक उपकारक कृत है, जिसका वैज्ञानिक आधार लेषमात्र नहीं, केवल

[7] मा अनुस्सवेन, मा परम्पराय, मा इतिकिरियाय, मा पिटकसम्पदानेन, मा तक्कहेतु, मा नय हेतु, मा आकारपरिवितक्केन, मा दि♣निज्झानक्खन्तिया, मा भब्बरूपताय, मा समणो नो गरुति, केसमुHसुH, अ⌊तर निकाय, तिकनिपात, पृ॰ 217।

अनुश्रवण से सुनी–सुनायी बातों पर विष्वास है, जिसका पालन लोग करते हैं और अंधविष्वास के मकड़जाल में पड़े रहते हैं। यहां अपना विवेक बुद्धि का प्रयोग नहीं करते हैं, जबकि बुद्ध हर काम को अपनी बुद्धि से सोच–समझकर करने के लिए कहा करते थे। सुनी–सुनायी बातों पर चलना एक प्रकार का पागलपन है। आजकल एक समाचार प्रसारित हो रहा है, जिसमें ग्यारह व्यक्तियों की सामूहिक आत्महत्या का कारण अनुश्रवण मात्र है। ललित भाटिया का अपने मृत पिता की आत्मा से बात होना और उनके कथनानुसार कार्य करते जाना अनुश्रवण है। स्वप्नों में पिता का अनुश्रवण, पिता से ललित का अनुश्रवण और ललित से पूरे परिवार का अनुश्रवण एक भरा–पूरा परिवार को समाप्त कर दिया। किसी व्यक्ति ने नहीं सोचा कि मरने के बाद फिर आदमी जीवित कैसे हो सकता है। बुद्धि की कसौटी पर न आत्मा है न परमात्मा, तो ललित का अपने परिवार की आत्मा को परमात्मा से मिलने के बाद लौटने की बात पागलपन मात्र था। बुद्ध ऐसे ही अंधविष्वासों से ऊपर उठकर अपनी बुद्धि से काम लेने की बात करते थे, जो वैज्ञानिक तथ्यों पर खरा उतरता हो, वही बुद्धि है। इसलिए बुद्ध ने कलाम क्षत्रियों को अनुश्रवण मात्र से किसी पर विष्वास करने से मना किया।[8]

2. **मा परम्पराय–** मा परम्पराय का अर्थ है परम्परा से चलते रहने के कारण उस पर विष्वास मत करो। बुद्धकाल में अनेक श्रमण–ब्राह्मण यह कहकर समाज के सीधी–साधी जनता को ठगते थे कि यह हमारे पूर्वजों द्वारा मान्य होता चला आया है इसलिए यह सत्य है। व्यक्ति और समाज के आवष्यक उपकारक कृत्य है। इसे जीवन में उतारना चाहिए। इस प्रकार का कृत्य परंपरा बन जाती है। समाज मानने के लिए बाध्य होता है। परंपरा से चली आ रही अनेक कृत्य है जिसे बुद्ध के विचारों से परिमार्जित करने की आवष्यकता है। यहां उदारणार्थ श्राद्ध कर्म द्रष्टव्य है। मरणोपरांत किया जाने वाला कर्मकाण्ड श्राद्ध है। इस कर्मकाण्ड में सभी पढ़े–लिखे विद्वान, डॉक्टर, इंजीनियर, अधिकारी परम्परा से चले आने के कारण संलग्न होते हैं। उसका इसलिए निर्वहन करते हैं कि यह तो पहले से चला आ रहा है। उनका विष्वास है कि इस कर्मकाण्ड का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है, करने का कोई औचित्य नहीं है फिर भी परंपरा से चलते रहने के कारण करते हैं। इस परंपरा में मृतक के मुंह में कुछ द्रव्य देते हैं। दाह–कर्म के बाद घर आने पर घर पर लोहा छूते हैं। दस दिनों तक टांटी बांधते हैं। प्रतिदिन सुबह–सवेरे कागबलि देते हैं। कर्ता नमक से परहेज करता है। घर और गोत्र के अन्य सदस्य खाने में तेल–हल्दी का परहेज करते हैं। तीन और सात दिन पर औरतें स्नान करती हैं। स्नान करने में तेल और साबुन का व्यवहार नहीं करती हैं। कुष रोपते हैं। उसमें जल देते हैं। दसवें

[8] मा अनुस्सवेनाति अनुस्सवकथायपि मा गण्हित्थ, अ⌡तर निकाय अ♣कथा केसमुH सुH, पृष्ठ 219।

दिन सभी स्वजन परिजन हजामत बनावते हैं। एकादषा करते हैं। महापात्र को वह हर चीज का दान देते हैं, जो मरे व्यक्ति के इस्तेमाल के नाम पर दिया जाता है, यथा– खाट–बिछावन, छाता–छड़ी, गीता–रामायण का दान, स्वर्ग तक पहुंचाने के लिए बछड़ा, जिसकी पूंछ पकड़ कर मृतक वैतरणी नदी पार करने की मान्यता बताते हैं। बारहवें दिन छोटे-छोटे लोटा–थाली–गिलास एवं पिण्ड (चावल का चूर्ण) से मृतक को प्रेत योनि से देव योनि तक पहुंचाने का कार्यक्रम होता है। तेरहवें दिन पीपल में जल दिया जाता है और तब चौदहवें दिन घरवाले स्वजन और परिजन इस श्राद्धकर्म से छुट्टी पाते हैं। इस काम को करने में सभी पढ़े-लिखे लोग होते हैं। कोई डॉक्टर होते हैं, कोई इंजीनियर होते हैं, कोई प्रषासनिक अधिकारी होते हैं। पूछे जाने पर यह बताते हैं कि यह अनावष्यक है, इसकी कोई आवष्यकता नहीं है। फिर उनसे पूछा जाता है– आप क्यों करते हैं तो उनका उHर होता है– परंपरा से चला आ रहा है। बुद्ध ऐसे ही अनेक प्रकार के अनावष्यक कर्मकाण्ड को करने से मना करते थे। ऐसे कर्मकाण्डों में बहुमूल्य समय नष्ट करने से बचना चाहिए। यही बुद्ध का बुद्धिवादी अध्ययन है। बुद्ध मा परम्पराय के माध्यम से लोगों को यह बताना चाहते थे कि परंपरा को तोड़ो। जिस समय ऐसे नियम बनाये गये थे, जो परिस्थिति थी, आज वह नहीं है। कर्मकाण्ड का निर्माण ही मानसिक रूप से गुलाम बनाने के लिए हुआ है। जिस प्रकार वैदिक लोग परंपरावादी भोली–भाली जनता को कहते गये, वैसे ही अंधानुकरण आगे की पीढ़ी करती चली आयी। ऐसी परंपराओं पर बुद्धि का इस्तेमाल करना चाहिए कि ये सारे कर्मकाण्ड का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं है केवल परंपरागत विचार है। इसलिए बुद्ध ने कलाम क्षत्रियों को परंपरा से चली आ रही कथन को करने से मना किया।[9]

3. **मा इतिकिराय–** इतिकिराय का अर्थ है– इसी प्रकार से कहा गया और मा निषेधार्थक है अर्थात् परम्परा, अनुश्रुति और किंवदंती कथन पर विष्वास नहीं करना ही मा इतिकिराय है। दूसरे शब्दों में इति का तात्पर्य पूर्व की घटनाओं से है अर्थात् इतिहास से है। ऐसा कहा गया था पहले से ऐसा कहा जाने के कारण उस पर विष्वास करना इतिकिराय है। बुद्ध इतिहास रचना पर संदेह व्यक्त करते नजर आते हैं। यह व्यावहारिक सत्य है कि इतिहास की रचना एकांगी होती है। बुद्ध श्रमणों के इतिहास को भली-भांति जानते थे। श्रमण और ब्राह्मण का ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से अवगत थे। आर्यों के वैदिक कर्मकाण्ड को समझ चुके थे। ऋग्वेद उस काल में भी था। पुरन्दर के क्रिया-कलाप और वास्तविक स्थिति को पूर्णत समझ चुके थे। इतिहास की इन कमियों के कारण कलाम क्षत्रियों को उपदेष करते हुए कहते हैं कि कलामों इतिहास में कहे जाने के कारण उस पर विष्वास मत करो। उसे भी अपने स्तर से सत्यता की परख कर लो, तब उस पर विष्वास करो। इतिहास में विजित

[9] मा परम्परायाति परम्परकथायपि मा गण्हित्थ, वही पृष्ठ 219।

पक्ष की बात को फोकस किया जाता है, पराजित पक्ष की बात अनसुनी की जाती है। अषोक को इतिहासकार का एक वर्ग चण्डाषोक और अपने निन्यानवें भाइयों का हत्यारा कहा है। देवानांप्रिय के सही अर्थ की बदल कर मूर्ख किया गया। यह इतिहास की रचना विजित वर्ग द्वारा किया गया दुष्प्रचार मात्र था। यथार्थतः जब अषोक द्वारा लिखाया गया षिलालेख का अध्ययन हुआ देवानांप्रिय का अर्थ देवताओं के प्रिय अषोक का संबोधन साबित हुआ और उनकी चण्डाषोक की उपाधि और अपने निन्यानवें भाइयों का हत्यारा के कलंक से इति हुई। यह घटना निष्चित रूप से बुद्ध के बाद की है पर बुद्ध के उHराधिकारियों में से एक की है, जिसके संबंध में इतिहास बदला गया है, न कि यथार्थ में वैसा था। इसलिए बुद्ध ने इतिकिराय के द्वारा पूर्व के कथनों पर विष्वास करने के पहले उसकी भली–भांति समीक्षा की बात करते थे। बुद्ध का विचार अग्रसोची था। सब मानव हित के लिए उपदेष करते थे। विजित और पराजित दोनों पक्षों की बातों को सुनकर किसी निर्णय तक पहुंचने के लिए सोचा करते थे। इसलिए बुद्ध ने कलामों को उपदेष करते हुए कहा कि ऐसा कहा गया है इसलिए विष्वास मत करो।[10]

4. **मा पिटकसम्पदान–** पिटक सम्पदान का अर्थ है पिटारी में रखे ग्रंथों के पदचिह्नों पर चलना। पहले लिखने की परंपरा यांत्रिक नहीं थी। हस्तलिखित ग्रंथों को अलग-अलग पिटारी में रखते थे और समय आने पर उन लिखित ग्रंथों को निकालकर किसी विष्यान्तर मतवादों को प्रमाणित करने के लिए उसका प्रमाणस्वरूप इस्तेमाल करते थे। इससे शब्द प्रमाण की परंपरा चल पड़ी थी कि अमुक पिटक ग्रंथ में ऐसा कहा गया है। उस समय अनेक पिटक ग्रंथों को प्रमाण माना जाता था और उसके पदचिह्नों पर चलते थे। आगे चलकर इन ग्रंथों को ईष्वर कृत कहा जाने लगा। इसी रूढ़िवादी परंपरा से वेद को ईष्वरकृत और अपौरुषेय कहा जाने लगा। बुद्ध ईष्वर की सHा को अस्वीकार करते थे। पिटक सम्पदान के आधार पर वेदों की प्रमाणिकता पर प्रष्न खड़ा कर दिया। इस उदाहरण से यह भी ज्ञात होता है कि बुद्ध के पहले भी पिटकों में ग्रंथ सुरक्षित रखने की परंपरा थी। लोग यह समझते हैं कि बुद्धवचन के लिए ही त्रिपिटक का प्रयोग हुआ हैं पर इन सूत्रों से साबित होता है कि पिटकों की परंपरा बुद्ध से प्राचीन है। पिटकों की परंपरा में बुद्धवचन भी एक पिटक है। मा पिटक सम्पदानेन के द्वारा बुद्ध ऐसे पिटक तंत्रों के चक्कर में आने से मना करते थे। यह भी उसी तरह की बात है "महाजनेन गता सो पन्था" को प्रमाणिक मानकर ऊंट को महान और उसके पदचिह्नों को महापथ कहा गया। इस प्रकार बुद्ध ग्रंथों को प्रमाणिक मानकर अपने षिष्यों को उस ग्रंथों के आधार पर जीवन जीने से मना करते थे। किसी धर्मग्रंथ की बातों को गांठ बांधकर आचरण करना धर्माचरण नहीं है। परिस्थितिवष उसमें परिवर्तन कर उसके अनुसार आचरण

[10] मा इतिकिरायाति एवं किर एतन्ति मा गण्हित्थ, वही, पृष्ठ 219।

करना चाहिए जिसमें शील और नैतिकता का उल्लंघन न हो। बुद्ध परिवर्तनवादी थे। देष, काल, वातावरण के अनुसार परिवर्तन करना धर्म नियमों का उल्लंघन नहीं होता है। बुद्ध ने कहा किसी को भी मेरी बात केवल मेरे प्रति गौरव–भाव होने के कारण स्वीकार नहीं करनी चाहिए। इसलिए भगवान बुद्ध यर्थाथ और गलत का निर्णय करने के लिए किसी शब्द प्रमाण को एकदम बेकार मानते थे। पवित्र समझे जाने वाले वेद मंत्रों का जाप दूसरों के शब्दों की पुनर्रुक्ति मात्र है। उसे सत्य से कुछ लेना देना नहीं। यह ठीक वैसा ही है जैसे एक अंधा दूसरे का अनुसरण कर रहा हो, न पहले अंधे को दिखाई देता है, न बीच वाले को और न सबसे आखिरी वाले को। ज्ञान प्राप्ति के लिए षिक्षा आवष्यक है किन्तु यह षिक्षा आत्मानुभव द्वारा समर्थित होना चाहिए। राग–द्वेष से मुक्त पुरुष ही सत्य का सामीप्य कर सकता है। सत्य ज्ञान से श्रेष्ठतर होता है। व्यक्ति बुद्धिवादी तभी होता है जब आदमी चिंतन करता है, खोज करता है, ध्यान लगाता है और साथ ही साथ सभी प्राणियों के प्रति मैत्री भावना युक्त नैतिक जीवन बिताता है। ग्रंथों के अनुसार जीवन जीना आत्मचिंतन से दूर ले जाता है। आत्मबल कमजोर होता है। ग्रंथों में धीरे–धीरे पराषक्ति का संचयन हो जाता है। व्यक्ति मानसिक रूप से गुलाम हो जाता है। इसलिए बुद्ध ने कलाम क्षत्रियों को उपदेष करते हुए कहा– "पिटकों की बातों को प्रमाणिक मान कर उसके पदचिह्नों पर नहीं चलो।"[11]

5. **मा तक्कहेतु–** तक्कहेतु का अर्थ है तर्क–वितर्क के कारण धर्म के शरण में जाना। बुद्ध ज्ञान प्राप्ति के बाद अपने ज्ञान की उपलब्धि पर चिंतन करते हुए कहा था– "अयं धम्मो अतक्कावचरो" अर्थात् मैंने जिस धर्म का साक्षात्कार किया है वह तर्क से परे है। जहां तर्क का सहारा लेकर धर्म की सत्यता साबित की जाती है, वहां मेरे द्वारा प्राप्त धर्म नहीं भी टिक सकता है क्योंकि धर्म का स्वभाव तर्क से परे है। सत्य की परख तर्क से नहीं यर्थाथ और व्यवहार से किया जा सकता है। तर्क–वितर्क तो अनुमान पर आधारित हैं। अनुमान सत्य भी हो सकता है और असत्य भी। अंधेरे में रस्सी को देखकर सांप का अनुमान और सांप को देखकर रस्सी का अनुमान में दोनों असत्य है। तर्क तार्किक की क्षमता पर निर्भर करता है। सत्य तो सत्य होता है, वहां सार्वभौमिकता होती है, उसमें तर्क की गुंजाइष नहीं होती है इसलिए बुद्ध अपने षिष्यों को तर्क–विर्तर्क पर आधारित सत्य को अपने बुद्धि विवेक से परखने की बात कहते थे। बुद्ध रस्सी में सांप का अनुमान और सांप में रस्सी का अनुमान के ऊपर मन की दृढ़ता के साथ सत्य की परख करने की बात करते थे। बुद्ध के अनुसार मन ही सभी धर्मों का अग्रगामी है। बुद्ध अनुमान जनित सत्य का अंधानुकरण कर मिथ्या विचारों में रत रहने से मना करते थे। बुद्ध से चौदह अव्याकत प्रष्न पूछे जाने पर हमेषा मौन रहते थे क्योंकि ये चौदह अव्याकत प्रष्न

[11] मा पिटकसम्पदानेनाति अम्हाकं पिटकतन्तिया सद्धिं समेतीति मा गण्हित्थ। वही, पृष्ठ 219।

तर्क–वितर्क पर आधारित था। जिसके पास तर्कषक्ति ज्यादा होती है वह झूठी बातों को सत्य साबित कर सकता है और जिस व्यक्ति का तर्कषक्ति कमजोर है वह सत्य को पूर्णतः स्थापित करने में सक्षम नहीं भी हो सकता है। यद्यपि कि सत्य तर्क से असत्य नहीं हो सकता है और असत्य तर्क से सत्य नहीं हो सकता है। सत्य हमेषा सत्य होता है इसलिए बुद्ध तर्क के आग्रह पर धर्म को समझने की आवष्यकता नहीं बताते थे। धर्म सार्वभौमिक सत्य है, उसे तर्क से झुठलाय नहीं जा सकता है।

नालंदा का बौद्ध न्याय तर्क–वितर्क परा आधारित था। यहां तक आते–आते बौद्ध धर्म काफी विकास कर चुका था। बौद्ध धर्म में अनेक कर्मकाण्ड भी आ चुके थे। बाह्याडम्बर और अंधविष्वास भी भर गया था। बौद्ध का नैतिक दर्षन तंत्रयान में बदल चुका था। हर बात को तर्क की कसौटी पर कसा जाता था, जिससे वस्तुतः बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ। पालि आधारित बौद्ध धर्म उस समय तक विलुप्त हो चुका था। कलाम सुH का यथार्थ ज्ञान नहीं होने के कारण तर्क–वितर्क को बौद्ध धर्म में स्थान मिला। बुद्ध तो पहले ही तर्क–वितर्क को बौद्ध धर्म में मना कर चुके थे।[12]

6. **मा नय हेतु–** नय हेतु का अर्थ है पद्धति या सिद्धान्त के कारण। कुछ ऐसे अंधविष्वास समाज में फैले होते हैं, जिसके पीछे कुछ सिद्धान्त कार्यरत रहता है। वर्षा नहीं होने पर वर्षा कराने हेतु अखंड कीHन का आयोजन, पुत्र पैदा नहीं होने पर पुत्रेष्टि यज्ञ का आयोजन, नौकरी नहीं होने पर शनि की पूजा, पीपल वृक्ष में जल–गुड़–तिल का अर्पण, बृहस्पतिवार का दाढ़ी, बाल, नाखून नहीं काटना, मंगलवार को कन्यादान नहीं करना, यात्रा पर निकलते समय छींक का आना, छिपकिली का गिरना आदि अनेक ऐसे पद्धतियों का प्रचलन रहता है, जिसका वैज्ञानिक आधार कुछ नहीं होता है, पर इस पर सभी विष्वास करते हैं। सामाजिक स्तर पर इसकी खूब मान्यता होती है। पालन नहीं करने पर व्यक्ति को प्रताड़ित भी किया जाता है। विवाह की अनेक पद्धतियों से विवाह संपन्न होने पर दांपत्य जीवन में अगर खटास पैदा होता है, तो लोग इसमें विवाह पद्धति में खोट निकालने लगते हैं। उसमें कारण ढूढ़ना चाहिए न कि किसी नयहेतु से कार्य संपन्न करने के कारण कमी की बात करनी चाहिए। इस प्रकार के सैकड़ों उदाहरण हैं जिसका वैज्ञानिक आधार नहीं होता है केवल चलती हुई परंपरा पर विष्वास कर एक पद्धति के रूप में सामाजिक स्वीकृति रहती है। कुछ लोगों द्वारा एक पद्धति बतला कर चलाया जाता है। बुद्ध कलाम क्षत्रियों को उपदेष करते हुए कहते हैं कि पद्धति से ग्रहण किया हुआ किसी चीज को ग्रहण नहीं करना चाहिए।[13]
7. **मा आकार परिवितक्क–** आकार परिवितक्क का अर्थ कारणों के विषय में अनुचिंतन। भगवान बुद्ध का धर्म सांसारिक दुखों से छुटकारा के लिए था। उनका

[12] मा तक्कहेतूति तक्कग्गाहेनपि मा गण्हित्थ, वहीं, पृष्ठ 219।
[13] मा नयहेतूति नयग्गाहेनपि मा गण्हित्थ, वही, पृष्ठ 219।

अनुचिंतन था कि संसार दुख पूर्ण है। प्राणी दुखों से छुटकारा पाने के लिए दुख के कारणों के अनुचिंतन में लगे रहते हैं। केवल कारणों के विषय में सोच–विचार करने से दुख से छुटकारा नहीं पाया जा सकता है। दुख से पार पाने के लिए तत्काल समाधान करने की आवष्यकता है। आगे इस प्रकार का कारण न पैदा हो इसका उपाय करना ही बुद्धिमानी है। बुद्ध ने उपदेष देते हुए कहा था– "बाण से घायल व्यक्ति किसी वैद्य के पास जाये तो वैद्य को सबसे पहले उसके शरीर में बिंधे बाण को निकालने का उपाय करना चाहिए जिससे रोगी के शरीर की पीड़ा तत्काल दूर जो जाये। वैद्य अगर घटनाओं का अनुचिंतन करना शुरू करे कि जिस बाण से व्यक्ति घायल हुआ है वह किस प्रकार के लोहे से बना हुआ था। उसके बनाने वाला व्यक्ति काला या गोरा था, किस जाति का था, किस धर्म का था, इस प्रकार के कारणों के संबंध में विचार करने से रोगी दर्द से छुटकारा नहीं पायेगा। जरूरत है उसके शरीर से बाण को निकालने और उसे दुख से छुटकारा दिलाने की। बाण के इतिहास खंगालने की कोई आवष्यकता नहीं।" यही बुद्ध का बुद्धिवादी अध्ययन है इसलिए बुद्ध ने मा आकारपरिवितक्क का उपदेष दिया। कलाम क्षत्रियों को बताया कि दुख के कारणों को दूर करो उसके कारणों के संबंध में अनुचिंतन मत करो।[14]

8. **मा दिट्ठिनिज्झानखन्तिया–** दृष्टि निध्यान क्षांति का तात्पर्य मिथ्या धारणाओं या मतवादों में प्रमुदित होने से है। दूसरे शब्दों में अपने चिर विचारित मत के अनुकूल होने से और उस पर विष्वास करेन से है। सामान्य शब्दों में कहा जाये तो मिथ्या विष्वासों में पड़ा रहना दिट्ठि निज्झान है। जब समाज में षिक्षा का अभाव था। व्यक्ति अनेक धार्मिक अंधविष्वास, कर्मकाण्ड और बाह्याडम्बरों में उलझा था। वैदिकों ने समाज पर अपना वर्चस्व स्थापित करने के लिए अनेक प्रकार का जाल फैला चुका था। बुद्ध ऐसी षिक्षाओं से ऊपर उठने की बात बताते थे। आज भी स्कूल की षिक्षा दोषपूर्ण है, उसमें वैज्ञानिक पहुंच नहीं है जिससे सत्य को समझा जा सके। लोग मिथ्या धारणाओं में विष्वास के कारण उसे सत्य मान लेते हैं और उस पर इस प्रकार विष्वास कर बैठते हैं कि सत्य उनके लिए असत्य हो जाता है और असत्य को सत्य मान बैठते हैं– उदाहरण के तौर पर कुछ मिथ्या–धारणाओं के प्रति पाठकों का ध्यान आकर्षित कराना चाहता हूं। सूर्य और चन्द्र ग्रहण एक खगोलीय घटना है। चन्द्रमा और सूर्य के बीच पृथ्वी के आ जाने से चन्द्रग्रहण और पृथ्वी और सूर्य के बीच चन्द्रमा के आ जाने से सूर्यग्रहण होता है। पर मिथ्या धारणाओं को आगे बढ़ाने और भोली–भाली जनता को ठगने के लिए इसे राहू द्वारा चन्द्रमा को ग्रसने से जोड़ते हैं और शुभ–अषुभ का विचार कर गंगा स्नान और ब्राह्मणों को दान देने जैसे कर्मकाण्ड करवाते हैं। इसमें विद्यालय के अस्सी प्रतिषत षिक्षक भी गंगा स्नान कर ग्रहणों के अपषकुन से बचने की बात बताते हैं। इस प्रकार के षिक्षकों द्वारा

[14] मा आकारपरिवितक्केनाति सुन्दरमिदं कारणन्ति एवं कारणवितक्केनपि मा गण्हित्थ, वही, पृष्ठ 219।

अंधिविष्वास को बढ़ाने की षिक्षा दी जा रही है। इससे समाज को पीछे ढकेला जा रहा है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण भी देखा जाता है। कक्षा में पृथ्वी की उत्पH सुपरनोवा के विस्फोट से बताते हैं। भूकंप आने पर शेषनाग के मस्तक पर स्थापित पृथ्वी को नाग के द्वारा करवट बदलने से पृथ्वी में कंपन आने की बात कहते हैं। ऐसी मिथ्या धारणाओं पर बुद्ध किसी के कहने से विष्वास करने के लिए मना करते थे। इसलिए कलाम क्षत्रियों को बुद्ध ने कहा कि पहले से चली आ रही मिथ्या धारणाओं को चिर विचारित होने के कारण विष्वास मत करो।[15]

9. **मा भब्बरूपता–** महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने भब्बरूपताय का अर्थ वक्ता के भव्य रूप होने से और भद्दन्त आनन्द कौसल्यायन ने बहुसंख्यक लोगों के द्वारा माने जाने से किया है। दोनों अर्थ एक ही मतलब का द्योतक है। बुद्ध ने बहुत सारे लोगों के द्वारा माने जाने के कारण हमें भी उसे मानना चाहिए ऐसे क्रिया–कलाप को मूर्खता पूर्ण विचार कहा है। बहुसंख्यक लोग अपने विवेक से ऐसे आयोजनों में भागीदार नहीं बनते हैं बल्कि अंधानुकरण कर इस तरह के कार्यक्रम में भाग लेते हैं, इस प्रकार की अनेक घटनायें होती है, जिसमें ज्ञान कम मात्र अंधानुकरण होता है। आयोजन में भाग लेने वाले व्यक्तियों से पूछा जाता है कि आप कहां जा रहे हैं? क्या उद्देष्य है और उससे क्या लाभ है? उसे कुछ पता नहीं। उनका जबाब ढुलमुल होता है। सभी लोग जा रहे थे तो मैं भी चला गया। मेरा समाज आत्मचिंतन करने वाला नहीं है, ज्ञान का अभाव है, अंधभक्ति में फंसा होता है। एक उदाहरण पर विचार करना चाहिएः आजकल अनेक प्रकार का यज्ञ आयोजित किया जाता है। खूब प्रचार–प्रसार किया जाता है। कुछ लोग इस यज्ञ के नाम पर दान इक♣ा करते हैं। आठ दस दिन का आयोजन होता है। सैकड़ों महिलायें कलष लेकर जाती है, उपवास करती है और उनसे अनेक प्रकार का याज्ञिक कर्मकाण्ड कराया जाता है। जब उनलोगों से पूछा जाता है इसका उद्देष्य क्या है? कोई ठोस जबाब नहीं मिलता है। सिर्फ सभी लोगों के जाने के कारण मैं भी गया ऐसा कहते हैं। याज्ञिक कर्मकाण्ड वैदिकों का कर्मकाण्ड है और उद्देष्य स्वर्ग प्राप्ति है और आज इस तरह का आयोजन में चंद लोग मालोमाल बन जाते हैं और भोली–भाली जनता को ठगने का काम करते हैं। इस तरह का अनेक कार्यक्रम आयोजित किया जाता है जिसमें आयोजक का निजी स्वार्थ होता है और आम जनता बहुसंख्यक द्वारा माने जाने के कारण अंधानुकरण करते हैं। कोई व्यक्ति किसी बाबा के संबंध में बिल्कुल झूठा प्रचार करता है कि बाबा का तंत्र साधना बहुत कारगर है। बड़े–बड़े रोग को मंत्रों से दूर कर देता है। अंधानुकरण कर तांत्रिक बाबा के जाल में फंस कर बहुसंख्यक लोग उसे मानने लगते हैं और तंत्र के माध्यम से भक्तों का शोषण करते हैं। आज अनेक बाबाओं का सत्य सामने आया है और जेल की हवा खा रहे हैं। बुद्ध

[15] मा दि♣निज्झान खन्तिया अम्हाकं निज्झायित्वा खमित्वा गहित दि♣या सद्धिं समेतीतिपि मा गण्हित्थ, वही, पृष्ठ 219।

बहुसंख्यक लोगों के द्वारा माने जाने के कारण उसे मानने को मना करते हैं, उनका कहना था इस तरह का अंधानुकरण करना अज्ञानता है, बुद्धिमता नहीं है। हर व्यक्ति को अपनी बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए न कि बहुत सारे लोगों के द्वारा माने जाने के कराण अंधानुकरण करना चाहिए। इसी तरह पुरुषोHम मास में राजगीर का स्नान, महाकुम्भ का आयोजन, कार्तिक मास में तुलसी पौधों के पास दीपक जलाना, उस दीपक को गंगा में प्रवाहित करना, षिव चर्चा ऐसे अनेक कार्यक्रम खास कर महिलाओं में पनप चुकी है जिसके संबंध में पता चलता है, बहुसंख्यक लोगों के द्वारा माने जाने के कारण विष्वास करते हैं और मानते हैं। इसमें उस व्यक्ति का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता है। एक दो शरारती तत्व गणेष को दूध पिलाने का अफवाह फैला दिया फिर पूरे देष में गणेष जी को दूध पिलाया जाने लगा। इस तरह की घटना के संबंध में बुद्ध का कहना था ऐसे आयोजन में शामिल होने के पहले सोचना चाहिए कि यर्थाथता क्या है, बुद्ध का यही अध्ययन बुद्धिवादी अध्ययन है, जिसके बल पर बौद्ध देष के वासी सुखी, समृद्ध और सम्पन्न होते हैं न कि सब लोगों के द्वारा कहे जाने के अनुसार चलते हैं। इसलिए बुद्ध ने कलाम क्षत्रियों को इस तरह के आयोजन से दूर रहने के लिए प्रेरित किया।[16]

10. **मा समणो नो गरुति–** श्रमण हमारा गुरु है ऐसा सोचकर उसके बात को मत मानो। सामान्य तौर पर लोग सोचने लगते हैं कि हमारे गुरु सबसे बड़े चिंतक हैं, विचारक हैं, ऐसा सोचकर अभिमान करते हैं और उनकी परीक्षा किये बिना उनका अनुकरण करते हैं। बुद्ध ने मा समणो नो गुरू के द्वारा यह उपदेष दिया कि लोगों के अंधानुकरण के कारण उस गुरू के पास चले जाते हैं, जिन्होंने कुछ षिष्यों को अपना दलाल बनाकर रखते हैं और गांव–घर के अपढ़–अषिक्षति नर–नारी को बहुला फुसला कर संघ में प्रव्रजित कराते हैं, उन भक्तों का अनेक प्रकार से शोषण करवाते हैं। भक्त भी बाबा का मानसिक गुलाम हो जाता है। अब बाबा के ऊपर सब कुछ अर्पित कर देते हैं। जब उन आचार्यों की पोल खुलती है, तब तक भक्त सब कुछ गंवा बैठते हैं और उनके पास पाष्चाताप के सिवा कुछ नहीं रहता है। बुद्ध अंधभक्ति के कारण होने वाले नुकसान से अपने अनुयायियों को बचाने के लिए हमेषा बुद्धिवादी विचार रखने का सुझाव देते थे। बुद्ध तो यहां तक कह जाते थे कि मेरी बातों की भी परीक्षा कर लो अगर मेरी बात सत्य लगे तो उसके अनुसार आचरण करो। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनका झुकाव नामी–गिरामी व्यक्ति के साथ फोटो खिंचवाने, मीडिया में आने और बड़े ताम–झाम के साथ रहने वाले बाबाओं का आषीर्वाद लेने में अपना मान समझते हैं, बुद्ध ऐसे मान को अभिमान कहते थे और मूर्खतापूर्ण बर्ताव बतलाते थे। जिस व्यक्ति का आचार्य प्रसिद्ध श्रमण या ब्राह्मण है, उसकी भी परीक्षा आवष्यक है कि उनका ज्ञान भक्तों के लिए कितना उपयोगी है।

[16] म भब्बरूपतायाति अयं भिक्खु भब्बरूपो इमस्स कथं गहेतुं युHन्तिपि मा गण्हित्थ, वही, पृष्ठ 219।

इस प्रकार बुद्ध ने कलाम क्षत्रियों को उपदेष देते हुए कहा कि श्रमण हमारे गुरु हैं इसलिए भी उनकी बात को बिना परीक्षा किये स्वीकार मत करो।[17]

इस प्रकार बुद्ध का धर्म बुद्धिवादी अध्ययन है। जीवन जीने की कला है। बुद्ध हमेषा चाहते थे आदमी मानसिक तौर पर क्रियाषील रहे। किसी की बातों को आंख बंद कर विष्वास न करे। अंधविष्वास से दूर रहे। आज जितने बाबा जेल में हैं। सबने धार्मिक संस्थाओं को कलंकित किया है और श्रद्धालु अंधभक्ति में पड़कर शोषित हुए हैं। बुद्धिवादी इस तरह के झंझटों में नहीं पड़ते हैं क्योंकि परिणामों का अनुचिंतन करते हैं। हमेषा सम्यक् स्मृति में बुद्धि को जागरूक रखते हैं। बुद्ध ने बुद्ध, धर्म और संघ को त्रिरत्न कहा। बौद्ध उपासक को बुद्ध, धर्म और संघ के शरण में जाने की अनुमति दी।

बुद्धं सरणं गच्छामि– बौद्ध धर्म में बुद्ध प्रथम रत्न है। किसी कार्य के प्रारंभ में बौद्ध लोग शरण गमन करते हैं। उनका विष्वास है कि बुद्ध के शरण में जाने से कल्याण होगा, मंगल होगा और सभी प्रकार के कष्टों का निराकरण होगा। बुद्ध का मार्ग अनीष्वर वादी है, जहां निरपकृत करने वाली पारलौकिक शक्तियां नहीं है, फिर किसी व्यक्ति के शरण जाने का औचित्य कहां है? यहां बुद्धं सरणं गच्छामि में बुद्ध व्यक्ति वाचक संज्ञा नहीं है बल्कि बुद्ध का अपनी बुद्धि, विवेक और प्रज्ञा के शरण में जाने के प्रति प्रेरणा है। इसलिए बुद्ध ने कहा– इति पि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो विज्जाचरण सम्पन्नो सुगतो लोकविदु अनुHरो पुरिसदम सारथी सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति अर्थात् ऐसे ही वे भगवान अर्हत सम्यक् सम्बुद्ध, विद्या और आचरण से संपन्न उHम गति को प्राप्त लोक–लोकान्तर के रहस्य को जानने वाले, पथ–भ्रष्ट घोड़ों की तरह राग, द्वेष, मोह से भटके लोगों को सत्य के मार्ग पर ले जाने वाले सारथी, देवताओं और मनुष्यों के षिक्षक तथा संपूर्ण क्लेषों से मुक्त ऐसे हैं, वे तथागत बुद्ध।

धम्मं सरणं गच्छामि– बौद्ध धर्म के त्रिरत्नों में धम्म द्वितीय रत्न है। धम्मं सरणं का तात्पर्य सार्वभौमिक धर्मता से है। तथागत ने धर्म का तात्पर्य वाद और इज्म से नहीं लिया है। वास्तव में जो सार्वभौमिक सत्य है वही धर्म है। दूसरे शब्दों में धर्म प्राणी मात्र की वह धर्मता है जो देष, काल और वातावरण में बंधा हुआ नहीं होता है। जब धर्मता देष, काल और वातावरण के दायरे में सिमट जाती है तो धर्म संप्रदाय बन जाता है। एक उदाहरण से समझा जा सकता है। सभी प्राणियों को भूख लगती है। सभी को भूख मिटाने के लिए आहार की जरुरत पड़ती है पर आहार की व्यवस्था उपलब्धता के अनुकूल होती है। आहार के बिना कोई जीवित नहीं रहता। जीवन के लिए आहार आवष्यक है। भूख लगना धर्म है, प्यास लगना धर्म है। यह प्राणियों की धर्मता है। भूख मिटाने के लिए आहार धर्म है, प्यास लगने पर जल की प्राप्ति धर्म है, उसी प्रकार श्वास–प्रष्वास के लिए वायु धर्म है। भूख मिटाने के लिए कोई शाकाहार का प्रयोग करते हैं, कोई मांसाहार और कोई फलाहार। आहार की यह भिन्नता धर्म नहीं संप्रदाय है। इस संप्रदायिकता के कारण समाज और

[17] मा समणो नो गरुति अयं समणो अम्हाकं गरु इमस्स कथं गहेतुं युHन्तिपि मा गण्हित्थ, वही, पृष्ठ 219।

घर–घर में कलह होता हे। अनावष्यक विवाद और तनाव होता है। इसलिए बुद्ध ने कहा– स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दि♣को अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यको पच्चH वेदितब्बं वि"Ψूही'ति अर्थात् अर्थात् भगवान बुद्ध का धर्म स्वयं व्याख्यायित है। यह धर्म स्वयं देखने योग्य है। कालान्तर में नहीं तत्काल फलदायक है। आओ और देख लो स्वयं अनुभूतियों के आधार पर धारण करने योग्य है। बुद्ध का धर्म निर्वाण तक पहुंचाने वाला और वेदनाओं के द्वारा स्वयं अनुभव करने योग्य है और यह समझदार व्यक्तियों के साक्षात्कार करने योग्य है।

संघं सरणं गच्छामि– त्रिरत्नों में संघ उHम रत्न है। बोधि प्राप्ति के बाद ब्रह्मा सहम्पति की प्रार्थना स्वीकार कर बुद्ध लोकहित के लिए धर्मोपदेष करने के लिए बोधगया से सारनाथ की ओर चल पड़े। बोधगया और गया के बीच में उपक आजीवक से मुलाकात हुई। आजीवक उस समय का बड़ा संप्रदाय था, जो नंगा रहता था। आजीवक भगवान से परिचय पूछता है। बुद्ध परिचय देते हुए कहते हैं– मैं सबको पराजित करने वाला, सबको जानने वाला हूं। सभी धर्मों से निर्लेप हूं, सर्वत्यागी हूं, तृष्णा के भय से मुक्त हूं। मैं अपने ही जानकर उपदेष करुंगा। मेरा आचार्य नहीं हैं। मेरे सदृष्य कोई विद्यमान नहीं है देवताओं सहित लोक में मेरे समान पुरुष नहीं है, संसार में अर्हत हूं, अपूर्व उपदेषक हूं। मैं एक सम्यक् सम्बुद्ध शांति और निर्वाण को प्राप्त हूं। धम्मचक्क के लिए षिष्यों के नगर जा रहा हूं। तब बुद्ध वाराणसी जाकर पंचवर्गीय भिक्षुओं को उपदेष दिया और षिष्य बनाया जिससे संघ का निर्माण हुआ। संघ की परंपरा आज तक चली आ रही है। संघ के लिए विहारों का निर्माण उपासकों द्वारा कराया गया।

जो बुद्ध धर्म और संघ का शरण लेते हैं वे बौद्ध धर्म के उपासक कहलाते हैं। त्रिरत्न तीन होते हुए भी एक दूसरे से अलग तीन वस्तुएं नहीं है। बुद्ध धर्म में प्रकट होते हैं और उस धर्म का आचरण संघ द्वारा होता है। इसलिए धर्म में विष्वास करना और संघ की उपासना करना बुद्ध में श्रद्धा रखना है और बुद्ध में श्रद्धा रखने का मतलब है धर्म में विष्वास करना और संघ की उपासना करना।

इस प्रकार बुद्ध का धर्म बुद्धिवादी अध्ययन है। जीवन जीने की कला है। बुद्ध हमेषा चाहते थे आदमी मानसिक तौर पर क्रियाषील रहे। किसी की बातों पर आंख बंद कर विष्वास न करे। अंधविष्वास से दूर रहे। आज कितने बाबाओं का चरित्र उजागर हुआ है। श्रद्धालु उनके अंधभक्ति में पड़कर शोषित हुए हैं। बुद्धिवादी इस तरह के झंझटों में नहीं पड़ते हैं क्योंकि परिणामों पर अनुचिंतन करते हैं। हमेषा सम्यक् स्मृति से बुद्धि को जागरूक रखते हैं।

Bodhi Path, July 2018 Issue 15
ISSN 2347-8004

राहुल सांकृत्यायन और बौद्ध धर्म

शशिकान्त
जे०आर०एफ०,हिन्दी विभाग
नव नालन्दा महाविहार,नालन्दा
(समविश्वविद्यालय)

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी महापंडित राहुल सांकृत्यायन एक बड़े बौद्ध विद्वान के रूप में परिगणित हैं। बौद्ध धर्म के पुनर्उत्थान में इन्होंने अपने जीवन का महत्त्वपूर्ण समय समर्पित कर विश्व समुदाय को अमूल्य ज्ञान से परिचित कराया। 9 अप्रैल 1893 ई0 को उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिला अन्तर्गत पन्दहा ग्राम में इनका जन्म हुआ था। एक ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर भी इन्होंने परंपरागत ब्राह्मणवादी सोच को आँख मूंद कर कभी नहीं स्वीकार किया। इसीलिए इनकी व्यक्तित्वांतरण की प्रक्रिया जीवन भर चलती रही। पहले वे वेदांती, फिर आर्यसमाजी, उसके बाद बौद्ध और अन्त में मार्क्सवादी रहे। लेकिन यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इन्होंने अपना सर्वोत्तम बौद्ध वांङमय को दिया। ''राहुल जी का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थायी कार्य उनका बौद्ध धर्म का अनुशीलन था। बौद्ध धर्म की विलुप्तप्राय धरोहर को फिर से उपलब्ध कराने में उनका कार्य अद्वितीय है। पुराने चीनी यात्रियों की तरह अथवा पुराने भारतीय यात्रियों की तरह वे हजारों लुप्त ग्रंथों की पाण्डुलिपियों को तिब्बत से भारत लाये।''[1]

ढाई हजार साल पहले बुद्ध ने जिस धर्म की नींव जनमानस में स्थापित की वह कालान्तर में मंद पड़ने लगा था। शंकराचार्य जैसे आध्यात्मिक, दार्शनिक विचारक ने वेदों की नयी व्याख्या कर बौद्ध धर्म से जनसमुदायों के आकर्षण को कम करने में काफी सफलता पाई। मुसलमान आक्रमणकारियों ने बौद्ध धर्म को बहुत आक्रांत किया। बौद्ध महाविहारों को तहस–नहस कर बौद्ध भिक्षुओं को बड़ी बेरहमी से मार डाला। परिणाम यह हुआ कि जो धर्म भारत भूमि पर जन्मा एवं पला बढ़ा वही धर्म यहाँ के लिए अजनबी बन गया। लगभग एक हजार साल तक हम तार्किक विषयों से दूर भक्ति की सरिता में गोते लगाते रहे।

ईसाई मिशनरियों एवं पुनर्जागरण आंदोलन ने हमें गहरी नींद से जगाया। यहाँ के लोग गाँव के गाँव अशिक्षित थे। कभी किसी गाँव में एक–दो व्यक्ति पढ़े–लिखे मिल जाते थे। तो लोग दूर–दूर से उनके पास अक्षर पढ़वाने के लिए आते थे। लेकिन जब भारतीय को पश्चिम से सम्पर्क स्थापित हुआ तो यहाँ के युवा वर्ग ज्ञान–विज्ञान में रूचि दिखाने लगे। हालाँकि, इस राह में रोड़े कम नहीं थे। भक्तियुगीन वर्णाश्रम व्यवस्था ने जिस सामाजिक न्याय पर ग्रहण लगा दिया था,
उस व्यवस्था से लोगों का मोह जल्दी जाने वाला नहीं था। यह वह समय था जब महात्मा गाँधी की 'आभा' देश ही नहीं विदेशों को भी चकाचौंध किए था। ऐसे विपरीत समय में राहुल जी ने गाँधी की कटु आलोचना की और बुद्ध के अनीश्वरवादी दर्शन को सामाजिक न्याय का एक प्रबल हथियार माना। प्रो0 गोविन्द चन्द्र पाण्डेय इस संदर्भ में लिखते

हैं–''राहुल जी का कहना है कि शासन की बागडोर अर्थशास्त्र और विज्ञान से चलती है, न कि गीत और रामायण से।''[2] 'ईश्वर में विश्वास' इस देश में इस कदम व्याप्त हो चली थी कि सत्यान्वेषण के लिए अवकाश नहीं रह गया था।

ऐसे विपरीत समय में राहुल सांकृत्यायन ने तार्किक एवं अन्वेषित तथ्यों के आलोक में दूसरी परम्परा को खोज निकाला। राहुल जी बौद्ध साहित्य के अध्ययन के लिए सन् 1927 ई0 में लंका गए। वहाँ प्रथमतः उन्नीस मास रहकर बौद्ध साहित्य का गहन अध्ययन किया। वे लिखते हैं–''पालि त्रिपिटक में बुद्ध कालीन भारत के समाज, राजनीतिक, भूगोल का बहुत काफी मसाला है। उन्होंने मेरी ऐतिहासिक भूख को बहुत तेज कर दिया था।''[3] उन्हें वहाँ अध्ययन करते हुए ही यह एहसास हुआ कि भारतीय संस्कृति जो विस्मृत हो चली है वह तिब्बत में मूल रूप न सही परन्तु अनुवाद के रूप में सुरक्षित है। वे तिब्बत जाने का विचार करने लगे। लेकिन तत्कालीन समय तिब्बत जाना बहुत जोखिम भरा था। ''एक समय हमारे देश के बंगाली विद्वान सर शरतचन्द्र दास तिब्बत से भारतीय साहित्य आदि की जानकारी तो लाये ही साथ ही तिब्बत की वह जानकारी भी जो सामरिक महत्व की थी, और वह सारी जानकारी उन्होंने उस सरकार को दे दी जिसने उन्हें राय बहादुर बनाया था तिब्बत वालों को पता लगा। सर शरतचन्द्रदास तो निकल आये थे वह उनका कुछ न कर सकते थे, किन्तु उन्होंने उस तिब्बत परिवार को जिसने ऐसे विश्वासघाती भारतीय को शरण दी थी बड़ी निर्दयता के साथ बर्फीले पानी में डुबा–डुबा कर मार डाला।''[4] इस परिस्थिति में हम समझ सकते हैं कि राहुल जी को तिब्बत में कैसी स्वागत की उम्मीद थी। फिर भी वे तीन–तीन सरकारों को चकमा देकर तिब्बत गए। वहाँ वे बड़ी कठिनाईयों का सामना कर बौद्ध साहित्य संबंधित तालपत्र, पोथियों को भारत लाने में सफल हुए। राहुल जी वहाँ के विहारों के बारे में लिखते हैं–''हमारे लिए तो उसका सबसे अधिक महत्त्व था, क्योंकि भारत से गई तालपत्र की सबसे अधिक संस्कृत–पोथियाँ इसी विहार में मिली। Äोर और शलू में भी दर्जनों ताल–पोथियाँ मिली, लेकिन वह सभी पहले स–स्क्या की ही सम्पत्ति थी, और ये विहार भी इसी सम्प्रदाय के हैं।''[5] तिब्बत की यात्रा और बौद्ध ज्ञान के उद्धार के लिए राहुल जी को पूरी दुनिया बौद्ध धर्म के बहुत बड़े प्रचारक के रूप में जानने लगी। इनके द्वारा रचित 'बुद्धचर्या' 'धम्मपद','मज्झिमनिकाय','विनय–पिटक', 'दीघनिकाय', 'बौद्ध दर्शन', 'तिब्बत में बौद्ध धर्म' आदि ग्रन्थ बौद्ध साहित्य में समादृत हुई।

'हिन्दी साहित्य का इतिहास' राहुल जी के प्रयत्नों से ही एक हजार साल का इतिहास नहीं रह गया। इन्होंने सिद्ध–नाथ साहित्य को बौद्धों की परम्परा से जोड़ कर हिन्दी साहित्य के इतिहास को लगभग 3–4 सौ साल पीछे तक ले गए। यह राहुल जी के प्रयत्नों का परिणाम है कि नये इतिहासकारों, आलोचकों ने स्वीकार किया कि–''सिद्ध साहित्य से हमारा तात्पर्य व्रजयानी परम्परा के उन सिद्धाचार्यों के साहित्य से है जो अपभ्रंश दोहों तथा चर्यापदों के रूप में उपलब्ध है और जिसमें बौद्ध तांत्रिक सिद्धान्तों की मान्यता दी गई है।''[6] राहुल जी ने हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन कवियों को रेखांकित करते हुए लिखा–''हमारे मध्यकालीन कवियों ने अपना नाता सिर्फ संस्कृत के कवियो से जोड़े रखा जिससे हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विकास की यह महत्त्वपूर्ण कड़ी काव्य–परम्परा से

टूटकर अलग जा पड़ी।''[7] वे सिद्धों की रचनाओं को संपादित कर अध्ययन–अध्यापन की परंपरा का श्रीगणेश किया। इसके पहले आचार्य रामचन्द्रशुक्ल ने सिद्धो–नाथों की वाणियों को साम्प्रदायिक ठहराकर साहित्य की सीमा से बाहर का रास्ता दिखला चुके थे। लेकिन राहुल जी नया सौंदर्यशास्त्र निर्मित कर सिद्धों की कविताओं को दोष रहित मानकर उसे श्रेष्ठ मानवीय अभिव्यक्ति सिद्ध किया है। वे लिखते हैं कि –''शायद कविता के रूढ़ि–बद्ध संकीर्ण लक्षण को लेने पर कबीर की तरह सिद्धों की कविता भी कविता न गिनी जाए या कम से कम अच्छी कविता न समझी जाय, लेकिन लाखों नर–नारियों को उनमें रस, एक तरह की आत्म–तृप्ति मिलती थी और आज भी उस तरह की मनोवृत्ति रखने वाले कितने ही पाठकों को वह उतनी ही रूचिकर मालूम होती है, इसलिए उन्हें कविता मानना ही पड़ेगा। यह ठीक है, उसकी भाषा सीधी–साधी है, समझने में बहुत सुगम है, लेकिन यह कविता का कोई दोष नहीं।''[8] सिद्धों की यही शैली संतों से होते हुए आधुनिक युग में निराला, नागार्जुन आदि कवियों में देखी जा सकती है। यह बात और है कि बौद्ध की तरह सिद्ध–संत की मार्मिक अभिव्यक्ति कुछ समय के लिए आचार्य शुक्ल की आलोचना पद्धति ने विद्वतजन को प्रभावित किया और उनकी वाणियों को साहित्यिक होने पर प्रश्न उठाये गये। आगे चलकर हम देखते हैं कि हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'दूसरी परम्परा की खोज' की चर्चा शुरू हो जाती है। यह सारा उपक्रम राहुल जी के प्रयत्नों का ही प्रतिफल है कि बौद्ध सरिता जो अन्तःसलील हो प्रवाहित हो रही थी वह धरातल पर पहुँच जन–समुदाय की प्यास बुझाई।

इस तरह हम देखतें है कि राहुल सांकृत्यायन और बौद्ध धर्म एक दूसरे के पर्याय बन गए। यू तो राहुल जी अपने जीवन की संध्यावेला में मार्क्सवाद से प्रभावित रहे लेकिन इस प्रभाव के पीछे भी उनके दिल में भारत की नंगी भूखी जनता के लिए असीम वेदना ही थी। यह असीम वेदना एवं समरस समाज की कल्पना बुद्ध के मानवतावाद एवं दुःखवाद से अलग नहीं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1. राहुल कथा साहित्य, प्रधान सम्पादक–गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, राका प्रकाशन इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1994 ई0
2. मेरी जीवन–यात्रा, भाग–2, राहुल सांकृत्यायन, राधाकृष्णन प्रकाशन, तीसरी आवृत्ति–2014, नई दिल्ली।
3. जो न भुल सका, डॉ0 भदन्त आनन्द कौशल्यायन, बुद्ध भूमि प्रकाशन, नागपुर, तृतीय संस्करण–1994 ई0
4. यात्रा के पन्ने, राहुल सांकृत्यायन, भारतीय प्रकाशन संस्थान 24 अंसारी रोड़, नई दिल्ली, संसकरण 2013 ई0
5. सिद्ध साहित्य, धर्मवीर भारती, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण, 2015 ई0
6. हिन्दी काव्य–धारा, राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, प्र0सं0–1945 ई0
7. हिन्दी काव्य–धारा, राहुल सांकृत्यायन, प्राक्कथन से
8. वही, पृ0 सं0 47

Bodhi Path, July 2018 Issue 15
ISSN 2347-8004

वर्तमान समय में दान का महत्त्व – बौद्ध धर्म के परिप्रेक्ष्य में समीक्षात्मक अध्ययन

दीपक कुमार
शोधार्थी
बौद्ध अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

वर्तमान समय में निर्धनता एक सर्वव्यापी समस्या है तथा इसका निर्धारण इस प्रकार किया जाता है कि यदि समाज का कोई वर्ग अपने जीवन की बुनियादी आवश्यकताओं को पूरी करने में असफल रह जाता है तो उस वर्ग को निर्धन समझा जाता है। वैश्विक स्तर पर अनेकों कोशिशों के बावजूद भी कुपोषण और भुखमरी की समस्या में कोई कमी नहीं आई है बल्कि बढ़ती ही जा रही है। इसका मुख्य कारण आर्थिक स्थिति में विषमताएं हैं। गरीबी और भूख की समस्या के प्रति लोगों को जागरूक करने और निदान खोजने का प्रयास किया जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन रिपोर्ट, 2017 के अनुसार भारत में कुल कुपोषित लोगों की संख्या 19.07 करोड़ है। यह आंकड़ा दुनिया में सर्वाधिक है।[1]

समाज में फैली असमानता का गरीबी के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है। इसके बारे में मार्क्स का कहना है कि असमानता पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का एक अंग है, जिसमें संपत्ति समाज के एक छोटे वर्ग के हाथों में सिमट कर रह जाती है। ये मुट्ठी भर लोग संपत्ति या उत्पादन के साधनों जैसे कि भूमि, कच्चे पदार्थ तथा पूंजी पर अपना कब्ज़ा जमा लेने के साथ साथ राजनितिक प्रक्रिया को भी प्रभावित करने लगते है जिससे कि सामाजिक असमानता को कायम रखा जा सके। धन के पीछे अंधे होकर भागने के आकर्षण ने मानवीय भावनाओं के लिए कुछ भी स्थान नहीं छोड़ा है। सब एक-दुसरे के माल को लूटना चाहते हैं, चाहे उसके लिए छल कपट ही क्यों न करना पड़े। क्या पूंजी का केवल कुछ लोगों के हाथों में इकठ्ठा हो जाना नैतिकता की कसौटी पर खरा उतर सकता है? आखिर क्यों निम्न वर्ग के लोगों को लूटा जाता है केवल इसलिए कि कुछ उच्च वर्ग के लोग ऐशोआराम का जीवन बिता सके।

वर्तमान समाज में फैली इस आर्थिक स्थिति के अन्तर को कम करने के उद्देश्य से प्रत्येक धर्म में दान को नैतिक और सामाजिक रूप से आवश्यक माना गया है। बौद्ध धर्म की भावना समाजवादी है जो सामाजिक उद्देश्य की सिद्धि के लिए मिल जुल कर काम करने की, पूर्ण रूप से भाईचारे का सामाजिक जीवन बिताने की शिक्षा देता है। यहाँ नैतिकता का आधार व्यक्तिवाद है और परोपकार व्यक्तिवाद का ही व्यवहारिक रूप है। जो व्यक्ति करुणावान, त्यागी और सत्कर्मी होता है वही दानशील हो सकता है। जिसके हृदय में दया की

भावना नहीं है वह कदापि दानशील नहीं हो सकता। महर्षि दधिची का दान, कर्ण का दान और राजा हरिश्चन्द्र के दान ऐसी ही श्रेणी में आते हैं जिसे इतिहास में आज भी याद किए जाते हैं। आज भी दान देने की भूमिका सार्वभौमिक रूप से स्वीकार की गयी है। और यह मनुष्य का एक बुनियादी गुण है, जिससे उसके व्यक्तित्व का पता चलता है। बौद्ध धर्म में वर्णित दान की भावना पूरी दुनिया के सुख एवं कल्याण के लिए लाभदायक है।

जिस प्रकार बादल बिना किसी भेद भाव के चारो ओर वर्षा करते है ठीक उसी प्रकार भगवान बुद्ध भी सभी पर समान अनुकम्पा करते है। उनका शिक्षण इतना पवित्र है कि वह ऊँच-नीच तथा धनी-दरिद्र में भेद नहीं करते, सभी के प्रति समान भावना रखते है। लोभ और तृष्णा के वशीभूत नहीं होना चाहिए यही बौद्ध धर्म का मार्ग है। महा निदान सुत्त में भगवान बुद्ध आनन्द से कहते है – "लाभ की इच्छा में से तृष्णा पैदा होती है, जब लाभ की इच्छा मिल्कीयत की इच्छा में बदल जाती है, जब मिल्कीयत की इच्छा अपनी मिल्कीयत से बुरी तरह चिपटे रहने की इच्छा बन जाती है, तो यह लोभ कहलाती है"।[2]

"धन की वर्षा होने से भी आदमी की कामना की पूर्ति नहीं होती। बुद्धिमान आदमी जानता है कि कामनाओं की पूर्ति में केवल अल्प स्वाद और दुःख है"।[3]

दान पाली भाषा में एक शब्द है जिसका अर्थ है – देना, प्रसाद और उदारता। उदारता वास्तव में एक आंतरिक स्वभाव या मन की गुणवत्ता है जो देने का कार्य करता है। उदारता की गुणवत्ता ही दान देने की प्रकृति से गुजरती है। क्योकि देना और उदारता एक दुसरे पर निर्भर करती है। भगवान बुद्ध ने उदारता को अध्यात्मिक विकास में मौलिक और आवश्यक गुण के रूप में मान है। धम्मपद में श्लोक 223 में भगवान बुद्ध ने चार प्रकार की जीत का वर्णन किया है।

अक्कोधेन जिने कोधं, असाधुं साधुना जिने।
जिने कदरियं दानेन, सच्चनालिक वादिनं।।

"अर्थात अक्रोध से क्रोध से जीते, अभद्र को भद्र बन कर जीते, कृपण को दान से जीते और झूट बोलने वाले को सत्य से जीते"।[4]

बौद्ध धर्म दर्शन में प्रज्ञा, शील, मैत्री, और करुणा को समस्त नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की आधारशिला माना गया है। जिनसे मनुष्यों में सत्य, अहिंसा, प्रेम, क्षमा, दान और परोपकार आदि मूल्यों का संचालन होता है।

थेरवाद में दस पारमिताओं (दस गुणों) का वर्णन किया गया है, जो बोधिसत्व की आधारशिला है। इनका अनुसरण करके निर्वाण की प्रप्ति होती है और मनुष्य दु:खों व पुनर्जन्म से छुटकारा पाता है। बोधिसत्व प्राप्ति के लिए शाठ्य (छल/कपट), मात्सर्य (ईर्ष्या), पैशून्य (चुगलखोरी) और सांसारिक वस्तुओं में संलिप्तता त्याग देनी चाहिए। प्रथम पारमिता दान पारमिता है। जिसमे दूसरों के हित के लिए बिना किसी आकांक्षा के अपना सब कुछ दान कर देना एवं दान से प्राप्त फल को भी त्याग देने को दान पारमिता बताया गया है।[5] अर्थात बोधिसत्व को दु:खी और जरुरतमंदो को दान देकर सहायता करनी चाहिए। भगवान बुद्ध सुभूति को दान पारमिता के बारे में इस प्रकार समझाते है – बोधिसत्व चित्त की सभी अवस्थाओं (बाह्य व भीतरी) का ज्ञान रख कर दान देना है, और उन्हें सर्वसाधारण के लिए परित्याग कर 'बोधि' को समर्पित करता है। वह दुसरो को भी ऐसा ही करने की प्रेरणा देता है। किसी भी वस्तु के प्रति उनकी कोई आसक्ति नहीं रहती।[6]

दान पारमिता तीन बातों से होती है –

- जब दान के पात्र की कोई सीमा नहीं रहती है, प्राणी-मात्र दान का पात्र बन जाता है।
- जब देने की वस्तु की कोई सीमा नहीं रहती, मनुष्य अपना सब कुछ दूसरों के हित में लगाने को तैयार हो जाता है।
- जब दान के बदले कुछ भी पाने की आकांशा नहीं रहती।

पाली त्रिपिटक अंगुत्तर निकाय के दानसुत्त में, भगवान बुद्ध ने सरिपुत्त को दान दाता के तीन कारक बताये है:[7]

1. दान देने से पहले दाता को प्रसन्न होना चाहिए।
2. दान देने से पहले दाता का मन प्रसन्न और साफ होना चाहिए।
3. देने के बाद दाता को संतुष्ट होना चाहिए।

अंगुत्तर निकाय के सिहसुत्त में दानी के पाँच लाभों का वर्णन किया गया है:[8]

1. दाता को अनेक लोगों के स्नेह का आनंद मिलेगा।
2. अनेक लोग दयालु दाता की प्रशंसा करेंगे।
3. दाता की अच्छी प्रतिष्ठा दूर तक फैल जाएगी।
4. समाज के लोगों के बीच दाता का आत्मविश्वास बढ़ेगा।
5. ऐसे व्यक्ति का मृत्यु के पश्चात स्वर्ग में पुनर्जन्म होगा।

अंगुत्तर निकाय के महानमसुत्त में, बुद्ध कहते है कि दान देने से दाता घृणा, भ्रम और अभिमान आदि से दूर हो जायेगा और उसके मन में शान्ति और एकाग्रता का विकास होगा।[9]

जातक कथाओं में दान पारमिता के अनेकों उदहारण मिलते है जैसे कि अनाथपिंडक, अकीर्ति ब्राह्मण, सङ्ख ब्राह्मण, धनञ्जय राजा, महासुदर्शन, महागोविन्द, निमि महाराज, चन्द्रकुमार तथा वेस्सन्तरों के जन्मों की कथाओं में उन्होंने दान पारमिता को पूर्ण करने में पराकाष्ठा प्राप्त की। शश पण्डित ने तो अपना शरीर भी दान मे दे दिया था। संख जातक में संख ब्राह्मण बहुत दान करता था। उसने दान के लिए छह दानशालाएं बनवा रखी थी और वह प्रतिदिन छह लाख मुद्राओं का दान किया करता था। अनाथपिंडक ने केवल विहार बनवाने के लिए चौवन करोड़ की मुद्राएँ दान की थी।[10]

शिक्षा (धम्म) दान के उपहार को भगवान बुद्ध ने सबसे श्रेष्ठ माना है। धम्मपद के श्लोक 354 में वे कहते है कि

सब्बदानं धम्मदानं जिनाति।

"अर्थात धर्म का दान सब दानों को जीत लेता है"।[11]

बौद्ध दर्शन में कुशल कर्म के तीन हेतु बतलाये गए है – (1) अलोभ, (2) अमोह, (3) अद्वेष। जो वस्तु प्राप्त कर चुके है या जो प्राप्त कर सकते है उसे छोड़ना अलोभ है। सबके प्रति सद्भाव एवं मैत्री की भावना रखना अद्वेष है तथा किसी भी वस्तु को जो जैसी है उसी प्रकार समझना अमोह है। मच्छक जातक में कहा गया है कि दान देने से पहले, दान देते समय और दान देने के पश्चात दानी का मन प्रसन्न रहना चाहिए यही दानी की असली संपत्ति है।[12]

जब कोई दाता उदारता के अभ्यास को विकसित करता है, तो यह दाता के दयालुता के चार गुणों (ब्रह्मविहार) मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा को विकसित करने में मदद करेगी। जैसे सभी मनुष्यों से मैत्री की भावना रखना, दु:खी जनों से करुणा की भावना, पुण्य जनों से मुदिता की भावना और अपुण्य जनों से उपेक्षा की भावना रखनी चाहिए। भौतिक उपहारों के अलावा एक दाता अन्य उपहार जैसे कि समय, ध्यान, सुनना, देखभाल, सम्मान, ज्ञान, कौशल, दयालुता, सहानुभूति आदि भी दान कर सकता है। उदारता के कुछ अन्य तरीके भी हैं जैसे कि यदि हमारे पास दान देने के लिए कुछ भी नहीं है तो भी हम दूसरों की प्रशंसा भी कर सकते हैं।

"तुम न तो किसी को लूटोगे, न किसी की वस्तु चुराओगे बल्कि दुसरों की सहायता करो कि उसे उस के परिश्रम का फल मिल जाए"।[13]

वर्तमान समय में मनुष्य केवल संग्रह में विश्वास करता है। ऐसे संग्रह की प्रवृत्ति से समाज में असमानता को खाई लगातार गहरी होती जा रही है। पूंजीवादी प्रवृत्ति से समाज में वैमनस्य, घृणा, क्रोध आदि का रूप बढ़ता जा रहा है। ऐसे में हमें दान के महत्त्व को समझना होगा, 'दान' से ही मनुष्य मनुष्य का कल्याण कर सकेगा। इस परिपेक्ष्य में हम बौद्ध दर्शन अथवा शिक्षाओं को प्रसांगिक देखते है और हमें यह ज्ञात होता है कि दान की प्रवृत्ति निर्वाण का सोपान है।

संदर्भ :

1. Committee on World Food Security Report, Rome, 2017 www.fao.org पर उपलब्ध
2. दीघनिकाय, दुतियो भागों, महावग्ग, महानिदान सुत्त, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1993 प्रष्ठ – 48
3. धम्मपद, बुद्धवग्गो, डॉ. भदन्त आनंद कौसल्यायन, 1993, बुद्ध भूमि प्रकाशन नागपुर, सूत्र 186, प्रष्ठ 46
4. धम्मपद, कोधवग्गो, डॉ. भदन्त आनंद कौसल्यायन, 1993, बुद्ध भूमि प्रकाशन नागपुर, सुत्त 223, प्रष्ठ 55
5. बौद्ध दर्शन मीमांसा, आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्करण 2014, प्रष्ठ 111
6. भगवान बुद्ध और उनका धर्म (अनुवाद), डॉ. भदन्त आनंद कौसल्यायन, बुद्ध भूमि प्रकाशन नागपुर , प्रष्ठ 180
7. Dana Sutta: Giving, (AN 6.37) Translated from the Pali by Thanissaro Bhikkhu, 1997, www.accesstoinsight.org पर उपलब्ध
8. Mahanama Sutta:To Mahanama(2), (AN 11.13) Translated from the Pali by Thanissaro Bhikkhu, 1997, www.accesstoinsight.org पर उपलब्ध
9. Dana Sutta: Giving, (AN 6.37)Translated from the Pali by Thanissaro Bhikkhu, 1997, www.accesstoinsight.org पर उपलब्ध
10. जातक अट्ठकथा, प्रथम भाग, डॉ. भदन्त आनंद कौसल्यायन, 2006 प्रष्ठ 236-241
11. धम्मपद, तण्हावग्गो, डॉ. भदन्त आनंद कौसल्यायन, 1993, बुद्ध भूमि प्रकाशन नागपुर, सुत्त 354, प्रष्ठ 84
12. जातक अट्ठकथा,भिक्खु धर्मरक्षित, 1951
13. सुत्तनिपात, धम्मिक सुत्त, द्वितीय संस्करण, भिक्षु धर्मरक्षित, 1983, प्रष्ठ- 99

Bodhi Path, July 2018 Issue 15
ISSN 2347-8004

डॉ॰ अम्बेडकर की भारतीय जल नीति व आधुनिक युग में प्रासंगिकता

रचना
शोधार्थी
बौद्ध अध्ययन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय

आज के समय में 'जल ही जीवन है' का नारा अवश्य दिया जाता है परन्तु जल को जीवित तत्व साबित करने के लिए उसको सुरक्षित रखना आवश्यक है साथ ही उसका सही प्रयोग भी। आज 21वीं शताब्दी में पेय जल की मात्रा तो सीमित होती दर्शाई जा रही है परन्तु यह भी सत्य है कि बाकि जल भी सामान्य कार्यों में प्रयोग किया जाए यह भी चिंता का विषय है। जिसको गंभीरता से अम्बेडकर पहले ही अध्ययन कर चकू ा है।

डॉ॰ अम्बेडकर की दूरदर्शिता से हम सभी अवगत है जैसा कि हम सभी जानते है भारतीय संविधान के अनुच्छदे 239–42 जो कि भारत सरकार अधिनियम 1935 का अध्ययन करके 1947 में इसका रुपांतरण किया गया। अन्तर्राज्यीय नदियों के विकास से बाढ़ नियत्रंण, सिचाई, जल परिवहन और जनबिजली आदि की समस्याओं के निदान से संबंधित योजनायें भी बनायी गई। उसके बाद संसद ने अतंर्राज्यीय जल विवाद अधिनियम वन दी बार्डे अधिनियम1 956 को पारितकिया। विदित है, भारत में संसार की 18 प्रतिशत से अधिक आबादी है जबकि विश्व का कवेल 4 प्रतिशत नवीकरणीय जलसंसाधन और विश्वके भूक्षेत्र का 2.4 प्रतिशत भूक्षेत्र हैं इसके अतिरिक्त, समय और स्थान के साथ असमान वितरण के कारण जल का उपयोग योग्य मात्रा भी सीमित है, इसके अलावा, दशे के किसी न किसी हिस्से में प्रायः बाढ़ और सूखे की चुनौतियों का सामना भी करना पड़ता है। एक तजेीसे विकासशील राष्टं मे ंजनसंख्या बढ़ने तथा आवश्यकताओ ंमे ंबढ़ोत्तरी और जलवायु परिवर्तन के प्रभावों को दखेते हुए,भविष्य में जल उपयोग,योग्य जल की कमी होगी तथा विभिन्न प्रयोक्ता समूहों के बीच जल विवादों के आरे गहराने की संभावना है।

यद्यपि, यह माना जाता है कि जल के संबंध में समुचित नीतिया,ं काननू बनाने, कार्यावित करने या विनियमन करने का अधिकार राज्य का है तथापि, जल संबंधी सामान्य सिद्धांतों का व्यापक राष्टीय जल संबंधी ढ़ांचागत काननू तैयार करने की आवश्कता है। इससे देश के प्रत्यके राज्य में जल के संचालन हेतु आवश्यक विधान बनाने तथा स्थानीय जल स्थिति से निपटने के लिए सरकार के निचले स्तरों पर आवश्यक प्राधिकार सौंपने का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा तथा ऐसे ढांचागत कानून मे जल को कवेल दुर्लभ संसाधन ही नहीं बल्कि जीवन और पारिस्थितिकी को बनाए रखने के साधन के रूप में भी मान्यता दी जानी

चाहिए। अतः खाद्य सुरक्षा, जीविका और सभी के लिए समान और निरंतर विकास हेतु राज्य द्वारा सार्वजनिक विश्वास के सिद्धांत के अंतर्गत जल विशेषकर भू–जल का सामुदायिक संसाधन के रूप में प्रबंधन करने की आवश्यकता है। जल के सभी रूपों (वर्षा, मृदा नमी, भूमि और सतही जल समेत) इसके समरूप परिप्रेक्ष्य में बेसिन को इकाई मानकर भूमि और जल संसाधनों की वैज्ञानिक आयोजन सुनिश्चित करने और आवाह एवं प्रवाह दोनों क्षेत्रों का समग्र व संतुलित विकास सुनिश्चित करने के लिए अंतर्राज्यीय समन्वय को सुलभ बनाने हेतु अतंर्राज्यीय नदियों और घाटियों के अनुकूलतम विकास के वास्ते एक व्यापक विधान की आवश्यकता है। इस विधान में अन्य बातों के साथ–साथ बेसिनों में संबंधित राज्यों को शामिल करते हुये जल उपयोग का आयोजन, प्रबंधन और विनियमन हेतु बेसिन प्राधिकरणों को समुचित शक्तियां सौंपने के आवश्यकता है। जो कि डॉ. अम्बेडकर ने 1956, नदी जल विवाद में इसको पूरी तरह से स्पष्ट किया था।

जल समीक्षा पर डॉ. अम्बेडकर के विचार

दशे के विभिन्न बेसिनों तथा रज्यों के विभिन्न हिस्सों में जलसंसाधन की उपलब्धता तथा इनके उपयोग का वैज्ञानिक पद्धति से आकलन आरै आवधिक रूप से अर्थात् प्रत्येक पाचं वर्ष मे, समीक्षा किये जाने की आवश्यकता है। जल संसाधन योजना के दौरान ही जलवायु परिवर्तन सहित विभिन्न घटकों के कारण जल उपलब्धता के रुझानों का आकलन कर ध्यान में रखना चाहिए। जल की उपलब्धता सीमित है परन्तु जनसंख्यावृद्धि, तजेी से हो रहे शहरीकरण, औद्योगिककरण के लिए उपयोग हेतु जल कीउ पलब्धता को बढ़ाए जाने की आवश्यकता है। उपयोगी जलसंसाधन में वृद्धि के लिए वर्षा का प्रत्यक्ष उपयोग एवं अपरिहार्य वाष्पात्सजर्न को कम करना नई अतिरिक्त कार्यनीतियां है। दशे में भू–जल संसाधन (पुनर्भरणीय एवं गैर–पुनर्भरणीय दोनो) की मात्राा एवं गुणवत्ता जानने के लिए जलभृतों की स्थिति का पता लगाने के आवश्यकता है। इस प्रक्रिया में स्थानीय समुदायों को शामिल करते हुए पूर्ण रूप से सहभगिता को बढ़ाया जाना चाहिए। इसे आवधिक रूप से अद्यतन किया जाए। अति–दोहित क्षेत्रों में जल उपयोग की उन्नत तकनीके अपनाकर, जल के कुशल उपयोग को प्रात्साहन दे कर और जलभृतों के समुदाय आधारित प्रबंधन को बढ़ावा दकेर भू–जलस्तर में गिरावट को रोके जाने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त जहां आवश्यक हो कृत्रिम पुनर्भरण परियोजनाएं शुरू की जानी चाहिए जिससे जल की निकासी जल के पुनर्भरण कम हो। इससे जलभृतों से सतही प्रणाली को आधारभूत प्रवाह उपलब्ध हो सकगेा और परिस्थितिकी बनाए रखी जा सकेगी।

डॉ. अम्बेडकर ने सुझाव दिया की अतं र्बेसिन अतंरण केवल उत्पादन बढ़ाने के लिए नहीं होता बल्कि आधारभूत मानवीय आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए और

स्मानता एवं समाजिक न्याय हासिल करने के लिए भी होता है। जल के अतं र्बेसिन अतंरण

को प्रत्यक मामले को उसकी विशेषताओं के आधार पर ऐसे अतंरणो ंके पर्यावरणीय, आर्थिक और सामाजिक प्रभावों का मुल्यांकन करके विचार किया जाना चाहिए। मृदा में नमी बढ़ाने, गाद में कमी लाने एवं समग्र भूमि व जल उत्पादकता को बढ़ाने के लिए जल ग्रहण क्षेत्र विकास क्रियाकलापों को व्यापक रूप से क्रियान्वित किये जाने की आवश्यकता है। किसानों द्वारा खेत के तालाबों एवं अन्य मृदा व जल संरक्षण उपाय अपनाकर वर्षा जल संचयन के लिए मनरेगा (एम.जी.एन. आर.ई.जी.ए.) जैसे वर्तमान कार्यक्रमों का लाभ उठाया जा सकता है।

जल क्षेत्र के मुद्दों का वैज्ञानिक पद्धति से समाधान करने के लिए निरंतर अनुसंधान और प्रौद्योगिकी की प्रति तथा जल संसाधन क्षेत्र में नवाचार कार्यों को प्रोत्साहन, मान्यता और पुरस्कृत किया जाना चाहिए। राज्यों को प्रौद्योगिकी, अभिकल्प पद्धतियों, आयोजना और प्रबंधन पद्धतियों को अद्यतन करने, स्थान आरे बेसिन हेतु वार्षिक जल मापनों और लखेों को तैयार करने,जल प्रणालियों हेतु जल वैज्ञानिक मापकों को तैयार करने तथा बेंचमार्किग आरै निष्पादन मुल्यांकन करने हेतु पर्याप्त अनुदान दिया जाना आवश्यक है। इस तथ्य को मान्यता दिए जाने की आवश्यकता है कि विकसित दशेों में जलक्षेत्र की क्षेत्रीय पद्धतियों में सूचनाप्राद्योगिकी और विश्लेषणात्मक क्षमताओं में प्रगति द्वारा क्रांति आई है। भारत में निजी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में सभी स्तरों पर जल आयोजकों और प्रबंधकों हेतु एक पुनः प्रशिक्षण एवं गुणवत्ता सुधार कार्यक्रम प्रारंभ करने की आवश्यकता है। जल संसाधन के बदलते परिदृश्य हेतु नीति निर्णयों के प्रभावों का मुल्यांकन करने तथा नीति–निर्देशों को विकसित करने के लिए जल नीति में अनुसंधान हेतु एक स्वायत्त कन्द्र की भी स्थापना की जानी चाहिए। जल क्षेत्र में कुशल श्रमिकों की

आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए जल प्रबंधन में नियमित प्रशिक्षण और शैक्षणिक पाठ्यक्रमों को बढ़ावा दिया जाना चाहिए। प्रशिक्षण एवं शैक्षणिक संस्थानों को प्रगतिशील अवसंरचना विकसित करने की आरे बढ़ते हुए अनुप्रयुक्त अनुसंधान को बढ़ावा दने के लिए नियमित रू‍प से अद्यतन किया जाना चाहिएजिससेउन्हें विश्लेषण की प्रचलित प्रक्रिया में सुधार करने तथा संबंधित विभागों में तथा समुदायों द्वारा पूर्ण सूचना के अनुसार निर्णय लेने में सहायता प्राप्त होगी। जल क्षेत्र में विभिन्न भागीदारों के क्षमता निर्माण के लिए जल साक्षरता हेतु एक राष्टीय अभियान शुरू किये जाने की आवश्यकता है।

समकालीन समय में दखेा जा सकता है, डॉ. अम्बेडकर के सझुाव ही है कि 21वीं सदी में राष्टीय जल नीति पर, आज भारत विचार कर रहा है जैसे कि, राष्टीय सुरक्षा से संबंधित संवेदनशील श्रणेी के मामलों को छोड़कर समस्त जल वैज्ञानिक आंकड़ों को सार्वजनिक किया जाना चाहिए तथापि आंकड़ों को संवेदनशील सूची से बाहर करने के लिए आवधिक समीक्षा की जाए। संपूर्ण दशे में नियमित रूप से जल से जुड़े हर सभी आंकड़ों का संग्रहण, सूचीबद्ध करने और प्रक्रियान्वयन करने के लिए एक राष्टीय जल सूचना केंद्र को स्थापित करना चाहिए तथा इनका प्रांरभिक प्रक्रियान्वयन करना चाहिए, और जीआईएस

प्लेटफॉर्म पर खुले और पारदर्शी तरीके से रख–रखाव किया जाना चाहिए। संभावित जलवायु परिवर्तन को ध्यान में रखते हुए हिम और ग्लेशियरों, वाष्पीकरण, ज्वारीय जलविज्ञान तथा जलविज्ञानी अध्ययन, नदी ज्यामितिक परिवर्तनों, कटाव, अवसादन इत्यादि के संबंध में अति विस्तृत आंकड़ों का संग्रहण करने की आवश्यकता है। इसके साथ–साथ दशे में जल संरक्षण और प्रबंधन को मजबूत बनाने के लिए 'जल क्रांति अभियान' की शुरूआत 5 जून 2015 को पूरे भारत में किया गया। जिसमें सभी साझेदारों के समग्र और

एकीकृत दृष्टिकोण को समाहित करते हुए जन आंदोलन का आह्वान किया गया। इस जल क्रांति अभियान के तहत प्रत्यके जिले से वैसे दो गांवों को 'जल ग्राम' तहत चुना जाता है जहां पानी की विकट समस्या है और फिर इसके समाधान के लिए केन्द्रिय और राज्य प्रयोजित योजनाओं जैसे एआईबीपी, मनरेगा आदि के तहत व्यापक जल सुरक्षा योजना तैयार की जाती है। अब तक 1000 से ज्यादा 'जल ग्राम' गांवों की पहचान की गई है और इनमें से कुछ गांवों के लिए जल सुरक्षा योजना भी तैयार की गई है। इस प्रकार योजना व विकास से संबंधित भारत की जल नीति में डॉ. अम्बेडकर के योगदान को भूलाया नहीं जा सकता।

डॉ. अम्बेडकर की भारतीय जल नीति एवं विद्युत शक्ति योजना

भारत मे ंदेखा जा सकता है कि डॉ. अम्बेडकर को एक मजदूर नायक के रू‍ में पहचान नहीं मिल पायी जब कि उन्होनें ही 1937 में मजदूर विभाग की स्थापना की और 1942 में उन्होनें इस का पद भार भी संभाला। तात्कालिक समय में सिंचाई और विद्युत शक्ति नीतियां बनाने और विकास के लिए योजना बनाने में उनका अधिक योगदान भी रहा। यह मजदूर विभाग ही था जो कि डॉ. अम्बेडकर के मार्गदर्शन से केंद्रीय तकनीकी विद्युत बार्ड़े शक्ति के विकास के लिये जलविद्युत स्टशेन, पन बिजली सर्वेक्षण एवं बिजली उत्पादन और थर्मल पावर स्टेशन की जाचं पड़ताल की समस्याओं का विश्लेषण करता रहा। डॉ. अम्बेडकर ने जो विद्युत वितरण कदें, स्थापित किये वह अभी तक सुचारू रूप से कार्य कर रहे हैं जो इंजीनियर प्रशिक्षण के लिए विदेश जाते हैं वह डॉ. अम्बेडकर का चलाया अभियान था उनका मानना था इंजीनियर को अच्छी तरह से प्रशिक्षित ि कया जाय उसके लिए उन्हें विदश ही क्यो न जाना पड़े जिसके लिये डॉ. अम्बेडकर ने यह नीति मजदरू विभाग द्वारा बनायी थी।

भारतयी रिजर्व बैंक की स्थापना में डॉ. अम्बेडकर का योगदान

जैसा की हम सभी जानते हैं, कि डॉ. अम्बेडकर एक जाने माने अर्थशास्त्री थे। जून 1916 में अम्बेडकर ने पीएच.डी. के लिए थीसिस प्रस्तुत की जिसका शीर्षक था 'नेशनल डिविडेंड फॉर इंडियाज ए हिस्टोरीक एंड एनालिटिकल स्टडीज', अर्थशास्त्र मेंडी.एस.सी.के लिए मार्च 1923 मे ंउन्होनें अपनी थीसिस' द प्रोब्लम ेऑफ द रूपीज ऑरिजिन एंड इट्स सोल्यशूंस'

प्रस्तुत किया। इस थीसिस को लंदन की पी0एस किंग एंड कंपनी ने दिसम्बर 1923 में द प्रोब्लमे ऑफ द रूपीज के नाम से प्रकाशित भी किया। पुस्तक की भूमिका मशहूर अर्थशास्त्री प्रोफेसर कैनन ने लिख कर डॉ. अम्बेडकर की भूरि–भूरिप्रशंसाकी,इसपुस्तकमेंडॉ. अम्बेडकरने मुद्रा समस्या का अत्यंत विद्वता पूर्ण विवचेन किया हैं।डॉ. अम्बेडकर के अनुसार टकसाल बंद कर देने से मुद्रास्फीति तथा आंतरिक मूल्य असंतुलन दरू हो सकता है। उनका कहना था कि सोना, मूल्य का मापदडं होना चाहिए और इसी के अनुसार मुद्रा में लचीलापन होना चाहिए। डॉ. अम्बेडकर का निष्कर्ष था कि भारत को स्वर्ण विनिमय मानक की मौदिक्र नीति अपनाने से बहुत नकु सान हुआ है। उनका निष्कर्ष था कि भारत को अपनी मुद्रा विनिमय दर स्वर्ण विनिमय मानक की जगह स्वर्ण मानक अपनाना चाहिए जिससे कि मुद्रा विनिमय दर में बहुत अधिक उतार चढ़ाव न हो और स्ट्टेबाजी को अधिक बढ़ावा न मिले।

कुछ समय पश्चात् 'रॉयल कमिशन ऑन इंडियन करेंसी एंड फाइनेंस' जिसको 'हिल्टन युवा आयोग' के नाम से भी जाना जाता है भारत आया। इस आयोग के हर सदस्य के पास 'द प्रोब्लमे ऑफ द रूपी' पुस्तक संदर्भ ग्रंथ के रूप में मौजूद थी। भारत की मुद्रा समस्या के बारे में डॉ. अम्बेउकर ने हिल्टन युवा आयोग के सामने जो विचार प्रस्ततु किए वे उनकी मुद्रा समस्या के विषय में बहुत ही महत्वपूर्ण योगदान था। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट सन् 1928 में प्रस्तुत की इसी रिपार्टे के आधार पर 1 अप्रैल, 1935 को 'रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया' की स्थापना हुई। इससे यह विदित होता है कि डॉ. अम्बेडकर के अथक प्रयासों से ही रिवर्ज बैंक ऑफ इंडिया, केरंसी एवं फाइनैंस के नाम से भारत आया था। सबसे चकित कर दने वाली बात यह थी कि, प्रत्यके व्यक्ति ने डॉ. अम्बेडकर के द्वारा लिखित पुस्तक 'रुपये की समस्या–इसका उद्भव एवं समाधान– अपने–अपने हांथों में पकड़ रखी थी जिसको विधानसभा द्वारा आर.बी.आई. 1934 अधिनियम द्वारा पास किया गया। दखेा जाय तो बुनियादी सुविधाओ ंजैसे विद्यतु शक्ति सिंचाई, सड़के, दूरसचांर और यातायात सुविधायें आरै तकनीकी जनशक्ति इत्यादि को अधिक महत्व दिया गया यानि कृषि और उद्योगों को और ज्यादा महत्व दिया गया।

ऐसा माना गया कि बुनियादी सुविधाओं के विकास से रोजगार तथा औद्योगिक विकास में अधिक बढ़ोत्तरी आएगी न कि ग्रामीण क्षेत्रों में फैले बंधुआ मजदूरी से, डॉ. अम्बेडकर ने यह भी बताया कि हमारे दशे को सस्ती और प्रचुर मात्रा में बिजली मिलनी चाहिए नहीं तो औद्योगिक विकास सम्भव नही ंहो पायगेा। क्योकि सिंचाई और बिजली जैसे परियोजनाओं में अधिक पूंजी लगती है और औद्योगिक विकास के लिये यात्रा, सड़क, दूरसंचार इत्यादि अधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

1943–46 के बीच जब जलनीति विकसित हुई तब उन्होनें प्रत्यक विचार विमर्श में भाग लिया और अपने विचार भी व्यक्त किया 15 नवम्बर 1943 और 8 नवम्बर 1945 तक डॉ. आंबेडकर ने पाचं सम्मेलनों में भाग लिया जिसमें कि दो दामोदर नदी घटी प्राजेक्ट से

संबंधित थी। यह दोनों सम्मेलन कलकत्ता में हुए थे और एक महानदी प्रोजेक्ट और दो विद्युत शक्ति से संबंधित थे। डॉ. अम्बेडकर विद्युत शक्ति और सिंचाई समिति के अध्यक्ष भी थे। लेबर विभाग में अधिकारिक समिति के साथ भी जुड़े रहे।

डॉ. अम्बेडकर ने दो महत्वपूर्ण तकनीकी संगठनों की नींव डाली। मुख्यतः केंद्रीय जलमार्ग सिंचाई और नौ परिवहन विभाग, जो कि आज के समय में भी केंद्रीय जल आयोग और केद्रीय विद्युतप्राधिकरण के नाम से जाने जाते हैं जो दशे के विकास के लिये अति आवश्यक है।

डॉ. अम्बेडकर के निर्देशन में विकसित जलसंसाधन नीति एक दरूगामी ढांचा था और एक बहुआयमी उपलब्धि भी कहीं जा सकती है। उपरोक्त **दोनों** संगठनों के विकास से अतंर्राज्यीय नदी संबंध तथा व्यापक योजना बनाने की अवधारणा को बल मिला था इसके साथ ही बहुउद्देश्य परियोजनाओं के साथ नदी घाटी विकास प्राधिकरण का भी बढ़ावा मिला।

यह एक महत्वपर्ण नदी घाटी परियोजना की शुरूआत थी जोकि 'दामोदरवैली प्रोजेक्ट' के नाम से जाना जाता है जोकि मजदूर संगठन के अतंर्गत आता है। इसके बाद सोन नदी घाटी परियोजना, महानदी और कोसी नदी घाटी परियोजनाओं के साथ–साथ चबंल और दक्कन–नदियों आदि नदीघाटी परियोजनाओं की शुरूआत हुई इन परियोजनाओं से भारत बाढ़, नियत्रंण, सिंचाई, नौ परिवहन, घरेलू जल अपूर्ति, जल विद्युत एवं अन्य परियोजनाओं को बल मिला।

भारतीय संविधान में अंतर्राज्यीय नदियों को जोड़नें में डॉ. अम्बेडकर का योगदान

डॉ. अम्बेडकर ने जब भारतीय संविधान की 21 फरवरी, 1948 को एक प्रति 1□4प्रारूप1□2 जमा की तो इसमें डॉ. अम्बेडकर का अधिक प्रभाव था जो कि प्रारूप समिति के चये रमैन भी थे। यह मुख्य रूप से स्वतंत्र भारत की जल की नीति से सबं ंधित था।

भारतीय संविधान के अनुच्छदे 239–42 जो कि भारत सरकार अधिनियम 1935 का ही बारीकी से अध्ययन कर 1947 में इसका रूपातंरण किया। इन्हीं अनुच्छदे से यह विदित होता है कि कहीं से भी पानी की अपुर्ति करना प्राकृतिक अधिकार है। अन्तर्राज्यीय नदियों के विकास से बढ़ नियंत्रण, सिंचाई, नौ परिवहन और पनबिजली आदि की समस्याओं के निदान संबंधित योजनाये बनायी। उसके बाद संसद ने अतंर्राज्यीय जल विवाद अधिनियम 1956, नदी बार्डे अधिनियम 1956, नदी बार्डे अधिनियम 1956 को पारित किया। इस प्रकार योजना एवं विकास से संबंधित डॉ. अम्बेडकर के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता है।

डॉ. अम्बेडकर भविष्य निधि और रोजगार कार्यालय के जनक

जुलाई 1942 को वाइसरॉय की एक्जिक्यूटिव कौंसिल में डॉ. अम्बेडकर को श्रम सदस्य (वर्तमान समय में लबेर मिनिस्टर) के रूप में शामिल किया गया। मालिक मजदूरों के तमाम संघर्षों में उन्होनं े मजदूरों का साथ दिया। 7 मई 1943 को उन्हानें े त्रिपक्षिय श्रम सम्मेलन द्वारा संस्थापित स्थायी श्रम समिति की अध्यक्षता की और संयुक्त श्रम समितियां और रोजगार कार्यालय स्थापित करने के लिए पहल किया। आज जो हम हर जिले में रोजगार कार्यालय (इम्प्लॉइमेंटएक्स्चेंज) दखे रहे हैं, वो डॉ.अम्बेडकर की ही दने है, श्रमिको ंकी सामाजिक सुरक्षा के लिए उन्होनें भविष्य निधि योजना (प्रोविडेटं फडं) लागू करवाया, उन्होंने नौकरी पेशा लोगों के लिए काम के घंटे तय करने में भी भूमिका निभाई। उनका मानना था कि एक व्यक्ति का काम करने का समय निश्चित रहना चाहिए। क्या डॉ.अम्बेडकर का सन्दशे कवेल पिछड़े और शोषित समाज के लिए है? जी नहीं, ऐसा कतई भी नहीं है कि उनका सन्देश कवे ल कुछ वर्गों के लिए है। परन्तु हां यह बात जरूर है कि जितनी जरूरत पिछड़े और शोषित समाज को वाणिज्य और मुद्रा के ज्ञान की जानकारी की जरूरत है

उतनी भारत में विकसित समूहों को नहीं है। जहां तक भारत से बाहर और विकसित देशों की बात है जहां प्रत्यक व्यक्ति वाणिज्य और मुद्रा की शिक्षा लतेा है, उन दशेों में ऐतिहासिक तौर पर जातिवादी जैसी कोई समाजिक बुराई नहीं रही जिसकी वजह से कवेल दा–ेचार समूहों को छोड़कर शेष लोग शिक्षा और व्यवसायों से वंचित रहे हो। इसलिए वहां यह शिक्षा वर्षों से सबको मिलती आ रही है और सब ही लगभग शिक्षित है जो इस शिक्षा को आगे बढ़ा रहे है और ज्यादा से ज्यादा इसकी गहराईयों में जा रहे हैं। परन्तु भारत में इसलिए यह शिक्षा आवश्यक हो जाती है की एक तो यहां एक बड़ा वंचित समाज है इन सभी मुद्दों पर विचारोपरांत यह कहा जा सकता है कि डॉ॰ अम्बेडकर की दरूदिर्षता ने न कवेल जल योजनाओं को संविधान की सूचि में बद्ध किया अपितु समाज को भी जल की उपयोगिता, संरक्षण का पाठ दिया। जो आज का वैज्ञानिक समाज शोध में लगा हुआ ह।ै

संदर्भः–

- Ambedkar, Dr. B.R. (1948), Speech by the Hon'ble Dr. B.R. Ambedkar delivered in the Constituent Assembly on Thursday the 6th Novemeber, 1948 in support of the motion for consideration of the Draft Constituent as setteled by the Drafting Committee.
- Ambedkar, Dr. Babsasheb (1989), Writins and Speeches, States and Minorities, Government of Maharashtra, Vol.1, 1989.
- Jadhav, Narendra (1991), "Dr. Ambedkar's Economic Thought and Philosophy", Bombay Popular Prakashan.

Bodhi Path, July 2018 Issue 15
ISSN 2347-8004

भगवान बुद्ध की दुष्टि में नारी का अस्तित्व

Vijay Arora, University of Delhi

हमारे विश्व का इतिहास प्राचीन काल से ही पुरुष प्रधान समाज रहा है। महिलाओं की समाज में भूमिका पुरुषों की अपेक्षा काफी निम्न रही है। नारी अपने जीवन में बहुत सीमित वस्तुओं को ही प्राप्त कर सकती थी क्योंकि उसके जीवन की धारा जन्म से मृत्यु तक पिता, भाईयों व अन्ततः पतियों के अधीन थी इस तरह की पुरुष प्रधान दुनिया में नारी अपने विकास की बहुत ज्यादा आशा नहीं कर सकती थी। प्रारम्भ से ही पुरुषों ने महिलाओं के विकास पर अधिक कार्य नहीं किए। पुरुषों ने महिलाओं को अपने बराबर मानने में सदैव अस्वीकार किया तथा नारी को केवल एक सीमित, सादा जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया। वे महिलाओं को हीन भावना से देखते थे। पुरुष नारियों को अपना बंधक व स्वयं को इनका राजा मानते थे। नारी को केवल प्रजनन क्रिया के लिए उपयोग किया जाता था। इसलिए मानव जाति को ठीक प्रकार से समझने के लिए तथा मानव जाति में पुरुष तथा नारी के मध्य समानता का अनुभव प्रदान करने के लिए ऐसे प्रतिमान की आवश्यकता थी जिसमें किसी एक लिंग को केन्द्र में रखकर तथा दूसरे लिंग को किनारे पर रखने से सुनिश्चित तौर पर बचा जा सके। इस प्रकार मानव जाति के विकास के लिए तथा नारी के कल्याण के लिए आज से लगभग 2550 वर्ष पूर्व बौद्ध धर्म के संस्थापक भगवान बुद्ध ने एक ऐसा ही कार्य करने के लिए एक महत्वपूर्ण प्रयास किये थे।

छठी शताब्दी ईसा पूर्व बुद्ध का युग गंगा नगरीकरण के उद्भव व विकास के साथ–साथ तत्कालीन ब्राह्मण संस्कृति के हाशिये का प्रमुख गवाह था। तथागत ने समाज में महिलाओं व पुरुषों को एक ही एकीकृत व्यक्तित्व के पूरक पहलुओं के तौर पर बुद्धि व करुणा के रूप में देखा। बौद्ध धर्म के संस्थापक बुद्ध ने अपने संघ के भीतर नारी को व्यक्तिगत रूप में समान स्थान प्रदान किया। भगवान बुद्ध तथा उनके प्रिय शिष्य आनंद व उनके कुछ अन्य सहयोगियों का यह स्पष्ट मत था कि मनुष्य की जाति की भांति लिंग भी किसी व्यक्ति द्वारा दुख से छुटकारा पाने के बौद्ध लक्ष्य को प्राप्त करने में बाधा नहीं हो सकता था। समाज में कई लोग बुद्ध द्वारा पत्नी व गृहत्याग की घटना की आलोचना करते हैं परन्तु पत्नी व पुत्र के परित्याग के कारण बुद्ध की आलोचना अनुचित है क्योंकि उस समयकाल में आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा रखने वालों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह मनुष्य की तीन सार्वभौम बेड़ियों, धन, स्त्री व प्रतिष्ठा का त्याग करे। ज्ञान प्राप्ति के लिए तथागत ने यह किया समाज में सभी प्राणियों के दुख का मूल कारण तृष्णा को बताया।

बौद्ध धर्म में नारी के अस्तित्व व प्रतिष्ठा को लेकर दो परस्पर विरोधी रूप प्रदर्शित किए गए हैं। एक ओर नारी को धार्मिक जीवन के लिए नितांत बाधक माना गया है क्योंकि स्वयं बुद्ध भी गृहस्थ जीवन को जीवन के चरम लक्ष्य 'निर्वाण' प्राप्ति के मार्ग में बाधक समझते थे इसी कारण स्वयं बुद्ध ने भी गृहस्थ जीवन त्याग कर परिवाजक जीवन का प्रतिपादन किया था। उदाहरण के लिए जब शाक्य व कोलिय वंश के झगड़े में शाक्य राजा शुद्धोधन व अन्य शाक्य कुमारों की मृत्यु के पश्चात् जब महाप्रजापति गौतमी अन्य शाक्य स्त्रियों को साथ लेकर अपने सिर मुड़वाकर, काणाय वस्त्र धारण करके बुद्ध के पास वैशाली पहुँचे तो बुद्ध ने नारियों को अपने बौद्ध धर्म के संघ में प्रवज्जा प्रदान करने की अनुमति देने से इन्कार कर दिया था। परन्तु बुद्ध के प्रिय शिष्य आनंद के आग्रह करने पर बुद्ध ने कहा कि यह संभव है कि भिक्षुणियाँ बनकर स्त्रियाँ अर्हत फल की प्राप्ति कर सकती है परन्तु इन अठ्गुरु धम्मा का पालन करना होगा जो निम्नलिखित हैः–

– प्रत्येक भिक्षुणी को चाहे वह संघ में कितने भी वर्षों से रह रही हो सभी छोटे–बड़े भिक्षुओं को प्रणाम करना चाहिए तथा उनका आदर सम्मान करना चाहिए।

– भिक्षुविहीन स्थान पर भिक्षुणियों को वर्णावास नहीं करना चाहिए।

– भिक्षुणी भिक्षु संघ से यह पूछ ले कि हर पखवाड़े में उपोसथ किस दिन है और धर्मोपदेश सुनने के लिए किस दिन जाना है।

– वर्णावास तथा चार्तुमास के पश्चात भिक्षुणी को दोनों संघ की अर्थात् भिक्षु संघ और भिक्षुणी संघ की प्रवारणा करनी चाहिए अर्थात् स्वदोण बताने के लिए सभी से प्रार्थना करनी चाहिए।

– प्रति अर्द्धमास में किसी भिक्षु के समक्ष अपने पापों को स्वीकार करना चाहिए और जिस भिक्षुणी से संधोविशेष आपत्ति हुई हो उसे दोनों संघों में पन्द्रह (15) दिनों के लिए संघ के संतोष के लिए विहार से बाहर रातें व्यतीत करनी चाहिए तथा दोनों संघों से क्षमायाचना करनी चाहिए।

– जिस श्रामणेरी ने दो वर्ष तक अध्ययन किया हो उसे दोनों संघ उपसम्पदा प्रदान करें।

– किसी भी कारण से भिक्षुणी भिक्षु को अपशब्द न बोले तथा गाली गलोच कभी न करे।

– भिक्षुणी को प्रति अर्द्धमास एक भिक्षा लानी चाहिए।

– भिक्षुणी को अपने कर्तव्यों को भली भांति समझना चाहिए तथा सभी नियमों का पालन करना चाहिए।

– वे भिक्षुओं को विपथ न करें।

– भिक्षुणियाँ पाप से मुक्त रहें।

इस प्रकार भिक्षुणियों को बौद्ध संघ में आठ गुरु धर्मों का पालन करना होता था इन नियमों के पीछे भगवान बुद्ध का शायद यही भय था कि भिक्षु व भिक्षुणी का संपर्क कहीं संघ में भ्रष्टाचार उत्पन्न न कर दे। इस तरह हम कह सकते हैं कि बुद्ध मानवी चरित्र की दुर्बलताओं से भली भांति परिचित थे वे नहीं चाहते थे कि किन्हीं कारणों से बौद्ध संघ में भ्रष्टाचार उत्पन्न हो। इन नियमों को इसी कारण बनाया गया। बुद्ध संघ में स्त्रियों के प्रवेश को निषेध करके उनके उद्दीपन की संभावना को निर्मल करना चाहते थे और जिसके परिणामस्वरूप सारी सत्ता भिक्षु संघ के अंतर्गत रहे इसलिए यह नियम बनाये गये और इतने में भी बुद्ध का अंतिम उपदेश था कि स्त्रियों के संघ में प्रवेश से संघ की आयु क्षीण हो गयी है यदि बौद्ध संघ में स्त्रियों का प्रवेश नहीं होता तब यह धर्म लगभग जहाँ एक हजार वर्ष तक कायम रहता वही यह धर्म अब केवल पाँच सौ (500) वर्षों तक ही कायम रह पायेगा। इस पर लगभग 80 वर्ष की उम्र में तथागत को भी जरा अवस्था का अनुभव हुआ तथा बुद्ध का जब अंतिम समय निकट आया तब बुद्ध के प्रिय शिष्य आनन्द ने तथागत से पूछा कि स्त्रियों के प्रति भिक्षुओं का व्यवहार किस प्रकार का होना चाहिए? इस का उत्तर देते हुए बुद्ध ने कहा कि भिक्षु को उनका सम्मान/आदर करना चाहिए। इस प्रकार यह माना जाता है कि बुद्ध ने जो स्त्रियों के संघ में प्रवेश को न देने के आधार पर आलोचना की जो विरोध किया था वह केवल नारी के कामिनी रूप में की गई। व्यक्तिगत रूप से बुद्ध नारी का सदैव सम्मान करते थे। बुद्ध के लिए यह कथन असत्य है कि वे स्वभाव से स्त्री विरोधी थे और उसे नितान्त हेय समझते थे। स्त्री विरोधी उनके कथन स्त्री पर कामिनी रूप में ही उपयुक्त होते हैं उनका उद्देश्य समस्त नारी समाज की प्राकृतिय अयोग्यता का प्रतिपादन करना नहीं था। बौद्ध इतिहास की अमर नारियाँ– किसा, गौतमी, खेमा, विसाखा आदि तथागत के इस विश्वास की सत्यता का साक्षी है।

बुद्ध के अनुसार नारी में कोई भी अशुद्धता नहीं है और नारी को केवल पुरुष समाज की सम्पत्ति नहीं समझना चाहिए। नारी को बौद्ध इतिहास में नितान्त शुभ वर्णों में अंकित किया है। इसके अनुसार नारी कभी भी घृणा की पात्री नहीं हो सकती वह तो पुरुष की परम सखा है। नारी पुरुष का सदैव भला ही चाहती है तथा वह तो पुरुष की जननी है। बौद्ध साहित्य की जातक कथाओं में सुजाता एवं अनेक पतिव्रता स्त्रियों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। बुद्ध ने नारी को नितान्त शुभ वर्णों में अंकित किया है उनके अनुसार वह भार्या के रूप में जिन उत्तरदायित्वों व कर्तव्यों का संवहन करती है उन्हीं पर समाज का उत्कर्णायकर्म अवलम्बित है। वह समाज की आधारशिला है, पुरुष के व्यक्तित्व का अंकुरण माता के अंक में ही होता है यही उसका प्राथमिक एवं सर्वप्रथम शिक्षालय है। यदि माता पुरुष के चरित्र की संरोपण भूमि है तो पत्नी उसके विकास हेतु प्रस्तर स्तम्भ। बुद्ध के अनुसार पत्नी के रूप में स्त्री पुरुष के सुख–दुख,

आशा–निराशा आदि द्वन्दो में चिर साहचार्य देती हुई जीवन के सम विषम पथ पर उसके साथ निरन्तर गति से चलती हुई निरन्तर सहभागिनी बनी रहती है। नारी सामाजिक उत्कर्षापकर्ण का मापदण्ड है। उसकी सामाजिक स्थिति से सम्पूर्ण समाज प्रभावित होता है तथा नारी के सामाजिक मूल्य से समाज का मूल्यांकन भी किया जा सकता है। बुद्ध सैद्धांतिक रूप से नारी को पुरुषों के समान समझते थे। बुद्ध के अनुसार पुत्री वास्तव में ज्ञानी व गुणी बनकर पुत्र से अधिक अच्छी तथा आदर करने वाली संतान सिद्ध हो सकती है।

बौद्ध साहित्य के संयुक्त निकाय के मातुगाम सुत्त में बुद्ध ने अपने उपदेशों में कहा है कि नारी एवं पुरुष में नैसर्गिक अन्तर है। नारी की पाँच परेशानियां एवं विशेषताओं का बुद्ध ने वर्णन किया है। बुद्ध कहते हैं कि भिक्षुओं नारी रजस्वला होती है जबकि पुरुष नहीं होता। नारी अपना विवाह होने पर माता–पिता का घर छोड़कर पति के घर चली जाती हैं जबकि पुरुष विवाह के पश्चात् अपना घर छोड़कर नारी के घर नहीं जाता। स्त्री गर्भाधान करती है जबकि पुरुष नहीं करता स्त्री बच्चों का प्रजनन करती है जबकि पुरुष नहीं करता। उनके अनुसार विवाह के पश्चात् स्त्री को पति के घर में जाकर विशेष रूप से उसका घर संभालना चाहिए। बौद्ध साहित्य में वर्णन प्राप्त होता है कि साकेत नगर के करोड़पति सेठ धनंजय की जो पुत्रियाँ विशाखा व सुजाता थी। उनके पिता ने बुद्ध के उपदेशों से प्रेरित होकर विशाखा के विवाह पर विशखा को एक उत्तम गृहिणी होने के लिए दस उपदेशों का पालन करने को कहा जो निम्नलिखित हैं–

1. पुत्री बाहर की आग अंदर मत लाना।
2. पुत्री कभी घर के अंदर की आग बाहर मत ले जाना।
3. खुशी से बैठना,
4. खुशी से उठना,
5. खुशी से सोना,
6. आग की इज्जत करना,
7. घर के देवी–देवताओं का आदर करना,
8. उसी को सहायता करना जो तुम्हारी करता है,
9. उसकी सहायता मत करना जो समय पर तुम्हारी नहीं करता,
10. जो सहायता न करे उसको भी देना, जो सहायता करे उसकी भी सहायता करना।

बौद्ध साहित्य की थेरी गाथा में गाथा नाम से यह कथा है विशाख का विवाह श्रावस्ती के नगर के सेठ मिगार के पुत्र पुष्यवर्द्धन से हुआ। इस विवाह में कोसल नरेश प्रसेनचित स्वयं सम्मिलित हुआ था व वर पक्ष की ओर से गया था उसका ससुर मिगर जैन धर्मावलम्बी था। जब वह ससुर घर गई तो वह बौद्ध संघ का दान देने

लगी। बौद्ध धर्म में भक्ति देख कर बहू को धर्म विरोधिनी समझा गया। ससुर चाहता था कि बहू जैनों की भक्ति करे। उधर बहू चाहती थी कि बौद्धों में भक्ति करें। अन्त में विशाखा ने अपनी सेवा, सुशीलता, धर्मनिष्ठा, गुणों तथा तर्कों से ससुर की निष्ठा बौद्ध धर्म में स्थापित कर दी आगे जाकर अपने ससुर की माता कहलायी यानि उसे मिगार माता विशाखा नाम से बौद्ध धर्म में पुकारा जाने लगा। बौद्ध साहित्य के अंगुतर निकाय में बुद्ध ने विशाखा को नारियों के कत्रव्य की स्वयं शिक्षा दी थी बुद्ध ने कुलवन्ती स्त्रियों के लिए आठ गुणों को ग्रहण करने का विधान बतलाया है वे आठ सूत्र हैं।

– कुलवधुओं को सास ससुर की सेवा करनी चाहिए उनसे सदैव प्रिय व सहानुभूति पूर्वक वचन बोलने चाहिए।

– उनके प्रत्येक सुख का ख्याल करना चाहिए।

– अपने पति के मित्र तथा साधु संतों की उचित सेवा सम्मानपूर्वक करना चाहिए।

– घर में रखी कपास के उपयोग की कला में स्त्री को दक्ष होना चाहिए।

– घर के दास दासियों के जिम्मे लगाये गये काम उनके भोजन वस्त्र की व्यवस्था पर पूर्ण निगरानी रखनी चाहिए। पति द्वारा लाये गये धन का समुचित उपयोग के बाद उसकी रक्षा करनी चाहिए तथा अपने सभी परिवार के सदस्यों के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार करना चाहिए।

– पंचशील के नियमों का पालन करना चाहिए।

इसी सेठ की दूसरी कन्या थी सुजाता ने अपने पिता की शिक्षा का पालन नहीं किया और बुद्ध के परम भक्त अनाथपिंडक की पुत्रवधू बनकर वर का सम्मान नहीं किया व घर का नरक बना दिया। भगवान बुद्ध कहा करते थे कि पति पत्नी यदि चाहें तो अपने गृहस्थ जीवन की सुखी बना सकते हैं या दुखी बन सकते हैं। सुखी दुखी जीवन बनाना किसी ईश्वर या किसी देवता के हाथ में नहीं है। यह मात्र अपने कर्मों के आधार पर गृहस्थ जीवन में पति पत्नी के रहने के चार रूप होते हें ऐसा मनुष्य भगवान की दृष्टि में इस प्रकार है ऐसे गृहस्थ जीवन में

– एक लाश एक लाश के साथ रहती है।

– एक देवता एक देवी के साथ रहता है।

– एक लाश एक देवी के साथ रहती है।

– एक देवता एक लाश के साथ रहता है।

यहाँ लाश से मतलब पंचशील (हिंसा, चोरी, झूठ, शराब, व्यभिचार से दूर रहना) का पालन न करना देवता का मतलब पंचशील का पालन करना है। इस प्रकार पति पत्नी अपनी सूझ बूझ से अपने गृहस्थ जीवन को एक अनुपम जीवन बना सकते हैं। बुद्ध व आनन्द द्वारा ऐसे रूख को अपनाया जाना परम्परागत लिंगीय विकृति से परे सद्गुण व अध्यात्मिक समावम को पहचानने की ओर से किए गए प्रयासों को

प्रतिविम्बित करता है। बुद्ध ने नारी को ज्ञानी मातृत्वशील सृजनात्मक, भद्र व सहिष्णु के रूप में स्वीकारा किया बुद्ध शिष्याओं से ऐसी महिलाएँ थी जो मानसिक व दैहिक दुखों से मुक्त होकर अर्हत बनी। कुछ भिक्षुणियों की अपनी खुद की शिष्याएँ थी जो धर्मपतिपादन में सक्षम भी बुद्ध व दूसरे भिक्षुओं की मध्यता के बिना उन्हें पूर्ण मुक्ति दिला सकती थी। बुद्ध तथा आनन्द जैसे उनकी शिष्यों का मानना था कि जाति की तरह लिंग भी किसी व्यक्ति के द्वारा दुःख से छुटकारा पाने के बौद्ध लक्षण को प्राप्त करने में बाधा नहीं हो सकता था।

इस प्रकार बुद्ध और उनके प्रिय शिष्य आनन्द ने नारी के प्रति समाज में एक सकारात्मक व क्रांतिकारी रूख रखा। बुद्ध ने नारी तथा पुरुष दोनों के लिए समान रूप से अपने बौद्ध संघ में प्रवज्जित होने के लिए द्वार खोले। इसका बुद्ध के उग्र आलोचकों ने कड़ा विरोध किया उनके अनुसार यह कदम समाज के लिए खतरनाक सिद्ध होगा। परन्तु बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात नारी के उत्थान के लिए कदम नहीं उठे। बुद्ध जैसे महान व्यक्तित्व के अभाव में आनन्द जैसे महिलाओं के कुछ समर्थकों को संघ के भीतर तथा बाहर महिलाओं के संघ में प्रवेश के लिए विरोध का सामना करना पड़ा। इसका स्पष्ट उदाहरण राजगृह की प्रथम बौद्ध संगीति में आनन्द को दोषी ठहराकर आनन्द की कड़ी आलोचना से प्राप्त होता है। काल के उसी चक्र में बौद्ध संघ ने ब्राह्मणवाद के महिला विरोधी मत को अपनाया जिसने सदैव महिलाओं को नीच विश्वघाती, अविश्वासी, चरित्रहीन, ईर्ष्यालु, लालची आदि विशेषणों से विभूषित किया ाि। इस प्रकार के रूख के परिणामस्वरूप बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् नारी ने अस्तित्व को बहुत हानि पहुँचाई। बौद्ध साहित्य के विग्ग सुत्त में नारी को पुरुष की सम्पत्ति के रूप में प्रदर्शित किया गया है इसी प्रकार की सम्पत्ति के रूप में प्रदर्शित किया गया है इसी प्रकार का वर्णन सुल्लवग्ग सुत्त में भी प्राप्त होता है। मिलिन्द प्रश्नों में तथागत का कथन है कि एकान्त प्राप्त होने पर नारी किसी भी पुरुष के साथ विपथ हो सकती है चाहे वह अंगहीन ही क्यों न हो। परन्तु बुद्ध ने नारी का व्यक्तिगत रूप से कभी भी निरादर नहीं किया वे सदैव महिलाओं का आदर–सम्मान करने का आदेश देते थे। नारी के प्रति बुद्ध का कड़ा रूख केवल नारी की काम भावना को लेकर था। इसी कारण बौद्ध संघ में प्रवेश के समय बुद्ध ने नारी को अट्ठ गुरु धम्मा का पालन करने का उपदेश दिया जिसके परिणामस्वरूप समाज में नारी का आदर किया जाये तथा नारी को भी एक आदरपूर्ण स्थान समाज में प्राप्त हो सके। परन्तु बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् बौद्ध संघ का वृहत समाज पर व उसकी गतिविधियों पर नियंत्रण न के बराबर था जबकि दूसरी और समाज बौद्ध संघ के निर्णयों को कई प्रकार से प्रभावित कर सकता था परन्तु बौद्ध संघ विभिन्न प्रकार के समर्थन के लिए समाज पर निर्भर था। बौद्ध धर्म का ब्राह्मणीकरण भारतीय समाज की महिलाओं के विकास के इतिहास में एक काला अध्याय माना जाता है क्योंकि

ब्राह्मणीकरण के कारण बौद्ध संघ में भिक्षुणी संघ का अस्तित्व धीरे–धीरे क्षीण होता गया।

Genesis of Drikung-bKa-brgyud tradition of Tibetan Buddhism

Thinlay Norboo
Research Scholar (UGC-JRF)
Department of Buddhist Studies
University of Jammu, Jammu-180006(J&K)

Sixth century B.C.E has a great relevance in the history of India as it was the period, in which India witnessed the rise of many great religious teachers and scholars, of them was the Gautama Buddha and during his period teachings can be confined to geographical limits. However, with the passage of time the teachings of Buddha have been disseminated into various parts of foreign lands such as china, Mongolia, Tibet, Ladakh and so on. Prince Siddhartha was born to father *Suddhodana* who was the chief of Sakya whose capital was *Kapilavastu* and mother *Mahamaya* in Lumbini near *Kapilavastu*. After the demise of the mother, the child was looked after by his step mother Prajapati Gautami, younger sister of Mahamaya.

The Prince was bounded by comfortable life. When he was born, a number of wise saints predicted that the boy would become either a well-known spiritual leader or a great king. Although, the father wanted that his son would become a great king. Therefore the King kept the prince away from all forms of spiritual life and had no thought about concept of sickness, old age and death. When the prince was sixteen, his father arranged his marriage to a girl named Yasodhara. They had a son named Rahula.

One day the prince went out for trip through a town on a chariot with charioteer and the prince witnessed a diseased person, an old man, a dead body and finally he saw a saint. He asked questions and get answered for his questions from charioteer. An incident about the sufferings in the world gave rise to numerous queries within his mind and after the happening; prince soon gave up all his worldly pleasures in order to embark on a journey of self-discovery. At the age of twenty nine, the prince left his palace and his loving son and wife to lead an

ascetic life. Ultimately after about six years of rigorous meditation and contemplation, he got Enlightenment, and became the Buddha.

If we study the accounts of Tibetan Buddhism, many sources reflect that pre-Buddhist religion of Tibet was Bon-Chos.[18] With the fusion of new religion (Buddhism) with the existing Bon-Chos in Tibet, the traditional religion of Tibet took a new turn and many philosophies of Buddha found place in the religious practices of Tibet as logic was one of them. In Tibet, the Buddha's Dharma was propagated by many scholars like great Shantarakshita and Guru Padmasambhava as well as Kings of Tibet like King Srong-btsan-sgampo, King Khri-srong- lde-brtsan.

The seeds of Dharma sown by Buddhist propagators declined with the rise of King Lang Darma as he challenged many practices of Buddhist teachings, which led to the decline of Buddhist Dharma. The next wave of Buddhist doctrines in Tibet has been embarked after many years. It was marked by the translation of many Buddhist texts, exchange of Tibetan and Indian Buddhist scholars and the lineage of teachings founded between India and Tibet, which eventually gave rise to the chief Schools of Tibetan Buddhism like Nyingma, Skya, Kagyu, Gelug and so on.

The genesis of the Drikung-bKa-brgyud School can be traced back to the great Indian saint Tilopa who was one of the eighty four thousand Mahasiddhas of India. He studied Dharma directly from the Buddha Vajradhara (Dorje Chang)[19]. Now question arises here, who is Buddha Vajradhara? For this, one needs to understand the doctrine of Trikaya. The doctrine discusses that how Sakyamuni Buddha manifests in different levels with same compassion. Trikaya consists of three manifestations of the Buddha i.e. Dharmakaya, Sambhogakaya and Nirmanakaya. The Buddha's wisdom mind is Dharmakaya, the Buddha's speech is sambhogakaya and his body is Nirmanakaya. For instance the great Mahasiddha Tilopa received teachings directly from Sambhogakaya Vajradhara i.e. Dorje Chang. For the worldly people, the Buddha came as Nirmanakaya. It means One can receive the teachings according to the level of realization which achieved by oneself.

In Tibet, Tilopa's chief disciple, Naropa is remembered respectfully as *Na- Ro Pan Chen or Mahapandita*. This is because of the great Tibetan master Mar-Pa-Chos-Kyi-bLo-gros who met him in India and studied all the work of Naropa,

---

Murhty, K. Krishna.1989. Buddhism in Tibet, Publication Sundeep Prakash, Delhi, p.1

[19]Rao, Ramchandra. S. K. 1977. Tibetan Tantric Tradition, Publication, Rakesh Press, New Delhi, P.80

then brought into Tibet. It is said that he visited India three times through Nepal to search the authentic teachings of the Buddha. Konpo Konchok Phanday from Skurbuchan-Ladakh narrates that eminent Indian sage Naropa who came to Zanskar via Lamayuru village from Kashmir. He added that in Lamayuru a dGonpa name Yangdrung Tharpaling is one of the largest monasteries of Drikung kagyu Order and near the dGonpa, a cave is situated where Mahasiddha Naropa used to meditate in the eleventh century C.E

Mar-Pa-Chos-Kyi-bLo-gros's chief disciple was the enlightened Yogi Milarepa, who attained enlightenment in one life time, transmitted his teachings to Gampopa Sonam Rinchen. Gampopa Sonam Rinchen disciple was Lama Dagpo Lharje or Phagmodrukpa, whose chief disciple was Lord Jigten Sumgon. So, after the demise of Phagmodrukpa, Lord Jigten Sumgon took over the throne of the Phagdru Kagyu, which is in Densa Thil and later

Lord Jigten Sumgon established his own Order at the Drikung area.[20] An immeasurable year ago, with many wonderful signs accompanied the founder of Drikung kagyu was born to *Naljorpa Dorje*, a great practitioner of *Yamantaka* and mother *Rakshisa Tsuma* as the *Chakravartin Tsikyi Mukhyu* and it is believed that he was the father of a thousand princes. But later he gave up the kingdom, achieved enlightenment, and was known the *Tathagata Nagakuladipa.*[21]

Gurava Tsultrim Dorje was the immediate successor of Jigten Sumgon.[22] Since then, the teachings of Lord Jigten Sumgon have been carried out continuously by different lineages till now, that is way this Order is specially known for its continuous lineages.

Regarding the nomenclature of Drikung School, we can find various interpretations from the several Buddhist scholars. Khanpo Konchok Namdak from Phyang states that name or nomenclature of Tibetan Buddhist schools had been derived from different sources like name of area, founder of particular School or minister and also through their particular teachings. He further

[20] Gruber, R. Elmar. 2010. From The Heart of Tibet: The biography of Drikung Chetsang Rinpoche, the Holder of the Drikung Kagyu Lineage, Publication Shambhala Boston and London, p.187

[21] Rigzin, Konchok, 2010 The instruction of Gampopa: A Precious Garland of the Supreme Path, p.9

[22] Hun, Lye and Tenzin, Tsultrim. 2008. Masters of the Golden Rosary Lineage: Life and Liberation Stories of Drigung Kagyu Throne holders,p.14

narrates that the Drikung area was then, supposed to under Dri Seru Gungton, who was one of the ministers of King srong btsan sgam po or Songtsen Gampo and it is believed that the region was named after the minister. However, some scholars state that the founder of Order had selected a site for build a dGonpa near Densa thil. This site was earlier used to be a grazing area for Dri (female yak), so it is believed that the name Drikung has been derived from it.

As far as genesis of the Drikung Kagyu School in Ladakh is concerned, Drupon Konchok Tenzin Rinpoche narrates that Lord Jigten Sumgon sent his disciples to different places, especially Kailash, Tsari and Lapchi. During that time Channga Sherab Jungne, one of chief disciples of Ratna Shri or Jigten Sumgon, came to Ladakh, reached at Pangmig village near Pangong lake and there he built a temple, Khanpo Konchok Namdak Phyang, Khanpo Konchok Stanzin Skurbuchan, Khanpo Tashi Dorje Shachukhul and scholar Gyen Sonam Spaljor Kargam and many local scholars have been supported on his views. Later, this so-called ruined temple was rebuilt by the villagers with the advice of high Lama, named Gon Serbumchen.

Tak-Tse or Tangtse dGonpa is known for its giant statue of the founder of Drikung-bKa-brgyud. Some indigenous scholars narrate that the giant statue was brought from Pangmig village but according to Gyen Sonam Spaljor, a small statue of Jigten Sumgon might be installed inside the giant statue and that small one might be brought from said village.

Moreover, some scholars state that Channga Sherab Jungne, who was one of the disciples of founder of this tradition, had made his journey to Lamayuru village. In this village, Yangdrung Tharpaling dGonpa is situated and it's popularly known as Lamayuru dGonpa. It is said that first five hundred years of the dGonpa belonged to Kadam School after that Shamarpa Oder took over the dGonpa and had been under their control for many years. Later it was brought under the Drikung Kagyu Order in the sixteen century during the reign of the King Tashi Namgyal. Western scholar A.H. Fracke said that dGonpa initially belonged to Bon religion and its name Swastika is a symbol of Bon for eternity but it is rejected by many indigenous scholars on the basis of different reasons.

However, the development of Order had taken place many years later. Khanpo Konchok Phanday states that then, King of Ladakh had developed disease that was cured by great lama Chosje Danma Kungha Tagspa of Tibet and the King granted the lama a site to build a dGonpa and Gangon Tashi Chodzong popularly known as Phyang dGonpa was built on the site. Some indigenous scholars state that the dGonpa was built during the reign of King Jamyang

Namgyal but examining from inscriptions and wall paintings of the Gonkhang by western scholars, the dGonpa is supposed to have been constructed during the reign of King Tashi Namgyal. Since then Dharma of Drikung kagyu has been flourished in Ladakh.

Presently, Drikung Kagyu Order is headed by *Drikung Skyabgon Chetsang Konchok Tenzin Kunzang Tenley Lhundrup* and *Drikung Skyabgon Chuntsang Konchok Tenzin Chokyi Nangwa*. In nuclear age, Drikung Skyabgon Chetsang not only emphasises traditional teachings but also strives to focus on modern education too and working on Environmental catastrophes is one of his prime works.

Brief of Saṅgālovāda Sutta

Razainda Si Ri, Research Scholar, Department of Chinese & Japanese Studies, Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda, (Deemed University), Ministry of Culture, Government of India.

Once, The Buddha was dwelling in Veluvana monastery, which was offered by King Bimbisara, the ruler of Magadha. Early in the morning while The Buddha was going around for accepting the offerings of food in Rajgiri city meet with Saṅgāla who was the son of a rich man. He was coming back home after his worship as a usual ritual. He usually performed his ritual worship in the morning and a man of believers in family tradition and always followed his father's instructions and teachings with loyalty. While meeting The Buddha on the way he showed his respect to The Buddha. On the conversation The Buddha asked him some questions and preached him about the social duties for all human beings, which is known as "Saṅgālovāda Sutta".

In this Sutta The Buddha explained the social duties for all human beings which included the duties of parents, sons and daughters, husband and wife etc. It said that if one fails to execute these duties he and she must encounters a declination in prosperity and in addition will be caged in the misfortune of reborn in woeful abodes after death. By performing these duties with faith one enjoys prosperity and high dignity in the present life and will be reborn in pleasant abodes after

death. So, all human beings should observe and follow these social duties with due respect and firm conviction.

As per Saṅgālovāda Sutta, these duties are stated in brief as follows:

Saṅgālovāda Sutta means the discourse preached by the Buddha to a young man named Saṅgāla. In this Sutta, the Buddha explained the social duties for all human beings and they included the duties of parents, the duties of sons and daughter etc. if one fails to observe these duties one encounters a declination in prosperity in addition to the misfortune of being reborn in woeful abodes after death. If one observes these duties, one enjoys prosperity and high dignity in the present life and one will be reborn in pleasant abodes after death. So, all human beings should observe these social duties with due respect and firm conviction. These duties are stated in brief as follows:-

1. Five kinds of Duty for Sons and Daughters
   (a) Sons and daughters must attend closely to their parents in order to provide them with all the requisites in life.
   (b) The must carry out the social affairs of the business matters of their parents.
   (c) They must maintain their parents' properties, their parents' nationality their parents' religious duties, and try to straighten their parents' religious view if they have a wrong view. They must also maintain the good name of their parents and their lineage.
   (d) They must obey their parents and make themselves worthy of the parents' heritage.
   (e) On their parents' death they should do good deeds in dedication to them and share the merits with them.

2. Five kinds of Duty for Parents
   (a) Parents must prevent their sons and daughters from misconduct.
   (b) They must show their sons and daughters the way to good conduct.
   (c) They must make their sons and daughters learn arts and sciences.
   (d) They must give them in marriage to suitable persons.
   (e) They must give them their inheritance at the proper time.

3. Five kinds of Duty of a Pupil
   (a) He must stand up and welcome his teacher when he sees the teacher coming.

(b) He must attend upon his teacher.
(c) He must obey the words of the teacher with proper attention and respect.
(d) He must serve his teacher and supply his needs.
(e) He must learn carefully and respectfully what is taught or instructed by his teacher.

4. Five kinds of Duty of a Teacher
   (a) A teacher must teach his pupils good behavior.
   (b) He must impart knowledge to him in such a manner that the pupil may thoroughly grasp the subject.
   (c) He must train his pupil without any discrimination.
   (d) He must entrust his pupil to a good teacher.
   (e) He must protect his pupils from danger.

5. Five kinds of Duty of a Husband
   (a) A husband must be kind to and adore his wife.
   (b) He must not treat his wife in an insolent manner.
   (c) He must not engage in sexual misconduct with other women.
   (d) He must give her control and authority over domestic matters.
   (e) He must provide his wife with clothing and ornaments.

6. Five kinds of Duty of a Wife
   (a) A wife must arrange chores of the household well and run it smoothly.
   (b) She must distribute gifts fairly between her relatives and her husband's relatives.
   (c) She must not engage in sexual misconduct with other men.
   (d) She must keep and maintain in an orderly manner all things that are handed over by her husband.
   (e) She must be skillful and diligent in all her house work.

7. Five kinds of Duty of a Beneficiary
   (a) A beneficiary must protect his friend when his friend is inebriated.
   (b) He must guard over his friend's properties when he is inebriated.
   (c) He must be a refuge for his friend when the latter is in trouble.
   (d) He must not forsake his friend when he is in distress.
   (e) He must help his descendants.

8. Five kinds of Duty of a Master
   (a) A master should make his employees work in accordance with their capability and strength.
   (b) He must provide his employees with food and pay them sufficiently.
   (c) He must give them medical treatment when they are ill and sick.
   (d) One receiving delicious food, he must share it with his employees.
   (e) He must allow them to work at appointed times and let them enjoy leisure at other times for rest and relaxation.

9. Five kinds of Duty of a Servant
   (a) A servant must rise before the master.
   (b) He must go to sleep after his master.
   (c) He must take only what is given to him by his master.
   (d) He must try his best in his masters' work.
   (e) He must always speak of the virtues of his master.

10. Five kinds of Duty of Layman
   (a) A layman must minister to the Bhikkhus with affection in action.
   (b) He must minister to the Bhikkhus with affection in speech.
   (c) He must show them affection in thought, wishing them well at all times.
   (d) He must always keep his house open to the Bhikkhus.
   (e) He must provide them with material requisites.

11. Six kinds of Duty of Bhikkhus
   (a) A Bhikkhu must restrain his lay disciples from doing evil deeds.
   (b) He must exhort them to do good deeds.
   (c) He must protect them with loving-kindness.
   (d) He must preach them what they have never heard before.
   (e) He must explain to them what they have already heard before.
   (f) He must show them the way to the realm of devas.

12. Six kind of Duty of a Leader
   (a) He must be more industrious than others.
   (b) He must be vigilant in order to lead others.
   (c) He must be kind to his subordinates.

(d) He must forebear and forgive others.
(e) He must be considerate and reasonable whatever he does.
(f) He must be wise and foresighted in doing things.

As above mentioned, The Buddha preached Saṅgāla in about 12 verses and Saṅgāla followed Buddha's teachings and brought his believe in Three Gams.
So I myself have complete faith and believe that what the world needs in present is to follow The Buddha's teachings especially the Saṅgālovāda Sutta, which is not only consent with Buddhist but for all the social human beings. The world will be a place of complete peace and pleasure with people executing their duties to each other's as social being.

Reference:

1, Ministry of Religious Affairs, Myanmar. "The Teaching of The Buddha" (basic Level)
2, Ministry of Information "Loka Niti (Myanmar- English)
3, "Saṅgālovāda Sutta" Pāthika Vagga, (Myanmar)

Buddhist Education on Environment

Tsering Tashi Ph.D. Student, Department of Buddhist Studies, Delhi University

Introduction

In ancient India, during the time of Buddha, racial discrimination and the caste system were widely practiced in the society. There were four major castes in India i.e. Brahmans, Kshatriyas, Vaishyas, and Shudras. Of the four, the Brahmans were regarded as superior to the rest and became dominant in the country. They enjoyed rights for religious training and education, however, people belong to other castes were deprived of their religious and educational rights. In such a situation, Prince Siddhartha was born and after attaining Buddhahood, a new system of education was developed i.e. Buddhist education which was open to all walks of life irrespective of caste, creed, colour, religion, and so on. Buddha opposed the caste system and considered all people are equal and says that no person could be superior or inferior by birth. It is one's action alone that differentiates between superior and inferior. The goal of Buddha's teaching or the goal of Buddhist education is to attain the highest degree of happiness or Buddhahood. The medium of the teaching was the common language of the people and the

method of teaching was mostly oral in nature. The teacher educates the students through lectures and question-answer method. Though the art of writing had been well developed up to Buddhist period, yet due to the scarcity of writing materials, the system of verbal education was being used. The teacher would give lessons to the disciples who learned them by heart. Debate and discussions were also arranged to give an idea of the subject matter as well as to proliferate their understanding.

The members of the Sangha at first had no fixed habitat. They had to stay here and there, in a forest, on a hill slide, at the root of a tree, in a mountain cave, in the open air, and so forth. Gradually, they built monasteries wherein they acquire and impart Buddhist education. Monastery is the most important component of Buddhist architecture since early historical period. A monastery is called *Sangharama* in Sanskrit. Sometimes the word *Vihara* is used in the same sense. Generally, by a *Sangharama* or *Vihara*, it is understood as a place where Buddhist monks live.[23] The monasteries became the centres of learning as the status of universities. The subjects such as Buddhist Psychology, Epistemology, Logic, Philosophy, etc., are taught. Some of the most famous Buddhist centres of learning in the past were Nalanda University, Valabi, Vikramshila, Jagaddala, and Odantapuri.[24]

Buddhism and the Environment

It is said that Buddha Shakyamuni taught 84,000 teachings to help beings free themselves from the suffering of worldly existence caused by the 84,000 varieties of afflictive emotions. Though there is a little direct teaching on the environment in Buddhism; however, the teachings on environmental protection is widely covered in Buddhist education such as the concept of interdependence, non-violence, contentment, great compassion, the theory of rebirth, and so forth. The environment is very important not only for our present generation but also for future generations. If we exploit the environment for our personal gain, even though we may earn some money or some other benefits for a time being, in the long run, we will suffer and also future our generations will suffer. We should not forget that when the environment changes, climate also changes which in turn affect our well being and peace of mind. According to Buddhist teachings, there is a deep relationship between the environment and sentient beings. Though Buddhists do not believe that the plant and trees have lives, however, Buddhists consider them utmost important. From the smallest insect to the biggest elephant, the fundamental requirements for survival are clean water and fresh air for drinking and breathe respectively. One can live a few days without food, few days without water; however, one cannot survive more than few

[23] Sristidhar Dutta and Byomakesh Tripathy, *Buddhism in Arunachal Pradesh*, New Delhi: Indus Publishing Company, 2008, p. 159.
[24] P.V. Bapat, *2500 Years of Buddhism*, New Delhi: Publications Division Ministry of Information and Broadcasting, Govt. of India, 2009, pp. 155-61.

minutes without breathing. So, it is very important to protect the natural environment for the welfare of all living beings.

The strong connection that people felt with nature is illustrated particularly in the Buddha's life story, in which all the most significant events occurred in the countryside and are associated with trees: his birth at Lumbini as his mother, Mayadevi, grasped the branch of a tree, his Enlightenment beneath a Bodhi-tree, and his Mahaparinirvana between two trees.[25] Our ancestors and many people in the past viewed the earth as rich and bountiful and saw nature as inexhaustibly sustainable. However, we are now able to understand that it is so if we care for it. Many of the habitats of the earth such as animals, insects, plants, and so forth are rare and endangered and may not be known by our future generations if we don't care for them. We have the potential to protect them and it is our responsibility as well. We must consider and act before it is too late.[26] In Vinaya (*'dul ba*), the Buddha explicitly advised the monks to refrain from cutting and destroying living plants, and refrain from causing others to do the same. He taught the monks to care for tender trees, forbade to destroy seeds capable of germinating and defile the fresh green grass. From this, the virtues of planting trees and safeguarding the environment can be reflected clearly.

Environment and Interdependence

Buddhism taught about the interdependence of all living and non-living elements of nature. The ancient scriptures speak of the container (*snod*) and the contained (*bcud*). The world or the environment is the container – our resident and we are the contained – the contents of the container. From these simple facts, we can understand a special relationship – the contents cannot be contained without the container and the container contains nothing without the contents.[27] When the feeling of interdependence is realized, the feeling of exploiting and destroying the environment as well as harming other sentient beings will not arise. It is an undeniable fact that exploiting the environment affects not only oneself but all humanity including other living beings.

Environment and Non-Violence

The meaning of non-violence in Buddhism is to help others as much as possible if one cannot help at least refraining from harming them. The opposite word of 'non-violence' is 'violence' and the worst of the violence is

[25] I. N. Singh, *Environment and Buddhism*, Delhi: Prashant Publishing House, 2011, p. 4.
[26] *His Holiness the 14th Dalai Lama on Environment*, Dharamsala: Environment and Development Desk (DIIR) Central Tibetan Administration, 2009, pp. 1, 2.
[27] Ibid., p. 17.

taking the life of other living being or to kill. Killing or taking the life of other sentient beings lead to the extinction of certain species which directly or indirectly affects the environment and it is happening today. In Buddhism, the killing of any living being is prohibited right from the beginning. It would not be wrong to say that those who follow the path of non-violence are safeguarding the environment. These days, like Buddhism, scientists also say that the killing of living beings caused the extinction of certain animals. The practice of non-violence applies not only to human beings but also to all sentient beings that have a mind. Where there is a mind, feelings such as pleasure, pain, joy, etc., are also there and it is common that all sentient beings want happiness and dislike suffering. "If we can begin to deepen our relationship with nature through an understanding of interpenetration, and live more in harmony with our environment using the principle of non-violence, then a growing awareness of nature will begin to feed into our spiritual practice."[28]

Environment and Practice of Contentment

Pertaining to Buddhism and the environment, though, there is a more direct path to supporting environmentalism. Buddhism encourages individuals to "limit their resource consumption to the optimal satisfaction of the four basic needs of food, clothing, shelter, and medicine."[29] When one tries to earn far beyond one's basic need, exploitation toward the environment is likely to happen. The problems we face today over the issue of global warming, environmental degradation, and water crisis are the outcome of human greed. If the level of human greed is not reduced and continue exploiting the environment, those problems are bound to happen. To avoid those problems, we have to practice contentment which is the antidote of greed. In Dhammapada, the Buddha says: "Contentment is the most precious wealth."[30] With regard to this, Arya Nagarjuna mentioned:

"Of all the valuable things, contentment is supreme,
Said by the teachers of gods and men.
So always be fully content. If you know this contentment,
Even if you possess no wealth, you still qualify as wealthy."[31]

Great Compassion and Environment

"The Buddha said that bodhisattvas do not need to be concerned with many aspects of the path; they need not practice many other things. It is by one practice alone that Buddhahood will be in the palm of your hand. That one

[28] *Environment and Buddhism*, op cit., pp. 3, 4.
[29] Ibid., p. 201.
[30] *Dhammapada*, (Verse: 251).
[31] Nagarjuna's *Letter to a Friend*, (Verse: 34).

practice is great compassion, meaning the desire to become enlightened in order to liberate all other sentient beings."[32] A similar statement can also be found in the Bhavanakrama (*sgom pa'i rim pa*) of Acharya Kamalashila: "A Bodhisattva should not train in many practices; if a Bodhisattva properly holds to one Dharma and learns it correctly, he has all the qualities of Buddha in the palm of his hand. Now, what is that one Dharma? It is great compassion (*rnying rje chen po*)." The practice of great compassion extends not only to one's relatives and friends but to all sentient beings. It is to be mention here that the concern for environmental protection is inbuilt in the concept of great compassion as harming the environment may directly or indirectly hurt other sentient beings. Acharya Shantideva, an eighth-century Buddhist scholar mentioned: "If you do not care for others wellbeing then forget about attaining Buddhahood, even in this very life there will be no joy."[33]

Conclusion

Environmental protection is not a matter of religion; it is a matter of our survival. No matter which part of the world we belong to, fundamentally we share the same planet which is like our home. So, taking care of our planet-earth is like taking care of our houses. The real problem of today is the increase in global warming, climate change, water crisis, and so forth. It is said that in the past when someone travels in India they can take water from anywhere and drink it. However, today the drinkable water is very rare, people are facing water crises in many places and they are compelled to consume and use contaminated water. Even people living in the mountain areas are facing water crisis. If we continue exploiting the environment, the day might come in the future that there will be no sufficient clean air for breathing and we shall have to carry oxygen cylinders wherever we go. Protection of forests, rivers, and wildlife are utmost important in order to check environmental degradation. We should stop deforestation and plant trees as much as possible. Huge construction of hydro-electric project should be avoided. Everything has limitations, keeping this in mind, excessive use of natural resources should also be avoided. The environmental protection is a very important issue for everyone. It is, therefore, the teaching mentioned in the Buddhist canon such as the teaching of universal responsibility, the teaching of compassionate mind, the teaching of treating every sentient being as equal, non-violence, and practice of contentment are very relevant today. Every monastic institution where Buddhist philosophical texts are studied, the above-mentioned topics are also studied in detail.

[32] Dalai Lama, *The Way to Freedom*, New York: Harper Collins Publishers, 1997, p. 135.
[33] *A Guide to the Bodhisattava's Way of Life* (chapter-8, verse: 131).

References

1. Bapat, P.V., *2500 Years of Buddhism*, New Delhi: Publications Division Ministry of Information and Broadcasting, Govt. of India, 2009.
2. Dalai Lama, *The Way to Freedom*, New York: Harper Collins Publishers, 1997.
3. *Dhammapada*, (Verse: 251).
4. Dutta, Sristidhar and Tripathy, Byomakesh, *Buddhism in Arunachal Pradesh*, New Delhi: Indus Publishing Company, 2008.
5. *His Holiness the 14th Dalai Lama on Environment*, Dharamsala: Environment and Development Desk (DIIR) Central Tibetan Administration, 2009.
6. Nagarjuna's *Letter to a Friend*, (Verse: 34).
7. Shantideva, *A Guide to the Bodhisattava's Way of Life* (chapter-8, verse: 131).
8. Singh, I. N., *Environment and Buddhism*, Delhi: Prashant Publishing House, 2011.

Buddhist Tradition Among The Singpho Community In Assam

Mayuri Dihingia
Ph.D. Research Scholar
Dept. of Buddhist Studies
University of Delhi, Delhi

In Assam, Buddhism is professed by some of the tribal communities such as the Singphos, the Khamtis and the Phakials etc. The Singphos, one of the most powerful tribes in retrospect, have played a significant role in the history and culture of North-East Region.[34]Scholars have stated that they were originally hill people who migrated from upper Burma, unable to resist the superior might of the Burmese, the Singphos left their original home, crossed the Patkai ranges of hills on Indo-Burmese border and entered Assam in late 18th Century A.D.[35]The historical sources like the Tungkhungia Buranji and the Ahomar Sesh Yugar

[34] *Descriptive Ethnology of Bengal*, p. 5-11.
[35] *History of the Relations of the Government with the Hill Tribes of the North East Frontier of Bengal*, p. 61.

Buranji mentions in certain terms to their migration to Assam around 1793 A.D.[36]

As per their history, the Singphos are said to have first made their appearance on the eastern tip of Assam during the days of the famous Moamaria rebellion during the reign of Ahom king Gaurinatha Singh and came across the Khamptis, whom they successfully outsted from their settlements east of Sadiya and gradually occupied the whole tract of the country watered by the Buri Dihang, the Nao Dihang and the Tengapani rivers.[37]The Singphos are at present settled in Miao and Bordumsa sub-divisions of district Changlang and Chowkham circle of district Namsai; besides a few Singphos in Dibrugarh and Tinsukia districts of Assam.

The Theravada tradition is followed by the Buddhist tribal communities in Assam along with indigenous beliefs. Similar to their neighbours the Khamptis, and Tikhak Tangsas, the Singphos are followers of Theravada school of Buddhism, along with some elements of primitive religion can be easily identified among them. The source supporting that the Singphos are followers of Theravada Buddhism is known from the writings of British scholars. J.B. Neufville in 1828 stated about the worship of Gautama among the Singphos, whose temples and priests were found in all their principal villages. He further stated that the Singphos borrowed this concept from the Shans and the Khamptis.[38] Butler, writing in 1847, confirms the observations of Neufville.[39] E.T. Dalton in 1872, while mentioning about the religious life of the Singphos observed that there was no regular priesthood amongst them but they used to pay great deference to Pungyes or priests of the Buddhist Shans.[40] In Buddhism, the Triratna or the three jewels, that is, the Buddha, the Dhamma and the Sangha, are the sacred objects of worship. Along with the three jewels, the relics of the Buddha and prominent Bhikkhus are also worshipped by the layman. The Singphos along with the Buddha worship several local gods and their religion is a amalgamation of Buddhism and indigenous beliefs.A scrutiny of literature of 19th and early 20th century reveals that the form of Buddhism among the Singphos is not as pure as those of the neighbouring tribe Khamptis. Buddhism, says Verrier Elwin, 'retains its hold on the Khamptis, but the religion of the

[36] *Ahom Tribal relations- A poltical study*, p.246-248.
[37] *A History of Assam*, p. 307-308.
[38] *India's North East Frontier in the 19th Century*, p. 398-399.
[39] Ibid, p. 400-401.
[40] *Descriptive Ethnology of Bengal*, p. 9-10.

Singphos, have been considerably modified by a belief in witchcraft and sorcery.

It is generally believed that Pienduin Chow Siradow, a Burmese Buddhist scholar popularize Buddhism among the Singpho community with missionary zeal[41] and on 5th July 1882, Siradow left Myanmar and came to the eastern frontier of Assam for propagation of Buddhism among the Khamptis and the Singphos. He popularised the concept of having atleast a monastery in every villages of the area and advised the people to give up their traditional sacrificial rituals, practise non-violence, love, kindness and popularised the teachings of Buddha. He introduced the procedure of Sangkham (ordination of monk) and is credited to have introduced many Buddhist festivals among the Singphos.

The Singphos, like other Theravada Buddhist tribes of the state, observe a number of religious festivals and ceremonies tied to the lunar calendar of Buddhism. These festivals are Sangken, Poi puthikam, Nawa, Nawa sang Kathinkg Poi, and Maiko chincphai.[42] According to the Singpho tradition, Sangken is a new year festival celebrated with religious reverent and rowdy joy. It is celebrated in the fifth month of the Buddhist calendar, which falls in April.

The Poi-Puthikam (Buddha Jayanti) festival is celebrated in the month of May, when the people listen to Ahimsa discourse from monks, recite *Pancashilas* and sing religious songs, followed by a mass prayer and community feast. The festival of Nowa storti is observed from the full moon day of June/July to the full moon day of September-October for three months. On this day, villagers give alms of food and fruit to the monks and the festival signifies that one who feeds the hungry, would be happy in their lives and hereafter. The Nawa Sang Sdang festivals is observed in the beginning of the rainy season on a full moon day when the villages donate sweets, cake and other food items also with required articles for the monks for their day to day life. The Poi Kando festival is organized during the rainy season when the Junior monks lead the devotees of different villages to mass prayer.

The Katting Poi is observed on the full moon day of October-November, when robes for Lord Buddha and monks are woven, dyed and offered by the womenfolk, followed by a mass prayer and a community feast. The last important festival is the Maiko Chimphai, celebrated on the full moon day in the month of February, when the youths of the village prepare a tower like structure

[41] *Pienduin Chow Siradow*, p. 15-25.
[42] *Our Festivals*, p. 28-29.

of fire wood, locally called Maiko Chumphai, and in the early morning next day, the Maiko is set to fire, which is followed by a feast. This is celebrated to provide warmness to the monks to get happy and prosperous year and symbolically it reminds us about Buddha who on this day at Saranath told his disciples to have parinirvana after three months and people thought that the Lord would not be there in the next winter and thus offered warmth by setting fire to the firewood.

In retrospect, a survey of Buddhism among the Singphos would indicate that the Theravada Buddhism became popular among the people, sometimes in early 19th century A.D. and in this context, Pieundin Siradow played an important role with missionary zeal. He, indeed, consolidated the Buddhist faith among the Singphos. At present in most of the Singpho villages, one can notice a monastery and people celebrate a number of Buddhist festivals. Beside they also worship indigenous spirits, both benevolent and malevolent, and celebrate their indigenous Non Buddhist festivals. In the Singpho tribal community one sees amalgamation of Buddhism as well as local beliefs. Human society will always be indebted to the Buddha for his great contribution in the fields of spirituality.

References

1. Dalton, E.T. *Descriptive Ethnology of Bengal,* Calcutta, 1872, p. 5-11.
2. Mackenzie, A.*History of the Relations of the Government with the Hill Tribes of the North East Frontier of Bengal,* Calcutta, 1884, p.61.
3. Ibid. p. 62
4. Devi, Lakshmi. *Ahom Tribal relations (A political study)*, Guwahati, 1968, p. 246-248.
5. Gait, Sir Edward. *A History of Assam*, Guwahati, 1926, p. 307-308.
6. Elwin, V. (ed.), *India's North East Frontier in the 19th Century*, Shillong, 1962, p. 398-399.
7. Ibid. p. 400-401.
8. Bhikkhu Bornachar, *Pienduin chow Siradow*, Margherita, 1980, p.15-25.
9. Bordoloi, M.N. *Our Festivals*, Shillong, 1968, p. 28-29.

Characteristics of Buddhist Arts in Nāgārjunakoṇḍa

Kazumi Okabe
Research Scholar
Department of Buddhist Studies
University of Delhi
Delhi, India

Nāgārjunakoṇḍa remains were discovered in 1926. Nāgārjunasāgar is located 241 kilometers back from the mouth of Krishna River crossing the Deccan Plate from the west to the east. It belongs to the Guntur district of Andhra Pradesh. Before the dam was built, it was a small village. At that time, the world's largest dam was built with stone. Remains of Nāgārjunakoṇḍa were excavated from 24 km upstream of this dam. Although, excavated from this area, the ruins were not only those related to Buddhism but remains of each period since the Paleolithic age were also discovered. For these reasons, it is also one of the precious area in India where you can grasp the ancient history from archeological knowledge. The excavation survey in this area was conducted from 1954 to 1960.[43]

The ruins of Nāgārjunakoṇḍa were in the valley of the right bank of Krishna River. Because the river curved around here, the valley formed a relatively large basin. The building remains mainly of bricks excavated in this area that reaches over hundred. Most of them were from the Ikuṣhvāku dynasty of the second or third century. Also, there were buildings attached to the capital called Vijayapurī.[44]

Sātavāhanas declined by the middle of the third century and under the Ikṣvākus with the next power of the palace and facilities, Hindu and Buddhist temples were built in the capital of Vijayapurī. Buddhist stūpa and monasteries stand out with many sculptures. However, in the middle of the 4th century, along with the collapse of Ikṣvākus and the decline of commercial trade, Buddhist arts declined rapidly in southern India. In the Indian Buddhist art, the remains of major Buddhist relations in this area belong to the Amarāvatī school. It is positionally away from Central and Northwest India, which are the centers of Buddhist

[43] R. Subrahmanyam et al., *Nāgārjunakoṇḍa□1954 to 1960□:Volume□*, Memoirs of the Archaeological Survey of India, No.75□Archaeological Survey of India, New Delhi, 1975□; *Indian Archaeology: A Review,*1954-55,1955-56,1957-58,1958-59,1959-60

[44] Stone,E.R., *The Buddhist Art of Nāgārjunakoṇḍa,*□Buddhist Tradition Series vol,25□Delhi, 1992,pp.3-9.

culture. However, the Buddhist arts in this area had a great influence on Sri Lanka and Buddha statues in Southeast Asia.

The "Nāgārjunakoṇḍa" (Nāgārjuna hill) was named after Buddhist high priest Nāgārjuna (150 - 250). It prospered for about a century under the aegis of Ikuṣhvākus but then it declined with the rise of Pallavas.

The excavation of the Nāgārjunakoṇḍa remains are significant. For example, Amarāvatī has excavated numerous fragments of relief stones and the sculpted limestone railings already decorating the large stūpa. However, the use of these stone were unknown at the time. The extensive excavation survey of the Nāgārjunakoṇḍa ruins revealed the concrete structure of the Buddhist buildings. For example, in southern India, a single Buddha statue was not made much, but still life-sized Buddha statues were excavated from some ruins in addition to Amarāvatī and Nāgārjunakoṇḍa (Fig. 1) . It can be seen that they were being worshiped in the shrine (in Caityagṛha of the monastery etc).

Fig. 1 STANDING BUDDHA At State Museum of Hyderabad 17.01.2017

Besides that, the form of the city at the time that these Buddhist cultures were fostered was restored. As a result, we got valuable data on researching Buddhist arts in the Andhra region from this area. It gave me a chance to fundamentally rethink the previously unresolved issue.

There were more than thirty Buddhist temples in Nāgārjunakoṇḍa. From the engravings, it can be seen that these temples were used by at least four different Buddhist schools. The groups that had power in southern India are Caitika, Aparaseliya, Uttaraśaila, Pubbaseliya others are the base of Aparaseliya in

Nāgārjunakoṇḍa.[45] A large stūpa was built in this place. The Buddhist stūpa called Mahācaitya is in large scale. What is made by the help of the king's sister is known from the inscription. The king himself is a follower of Hinduism, but the women and merchants of the royal family proactively donated monastries and sculptures of Buddhist temples. A large number of relief sculptures from the Buddha statues have been excavated and succeeded to the modeling style of Amarāvatī, but the human body image is overflowing with more delicacy.The large stūpa is made of grilled bricks with a diameter of 27.7m, but its construction method is characterized. First we built three concentric walls, and when we look at it as a whole, we are laying bricks like wheels. The wheel-like

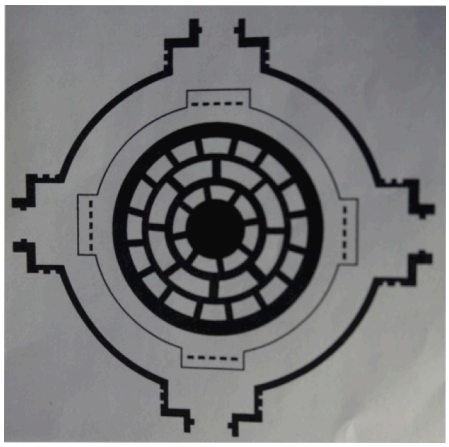

Fig. 2 Plan of Mahacaitya, Nāgārjunakoṇḍa. After T.N. Ramachandran, 1938

construction method of this stūpa is interesting and it was adopted also for other stūpa of Nāgārjunakoṇḍa, although there is a change in the number of widths. Regarding the wheel type of the base plan, it was also seen in the Taksila Stūpa of Gandhāra, but in fact this construction method was widely recognized in southern India and was also seen in Bhattiprolu, Ghantasala and others. It seems that the method of constructing a covered pot in this wheel shape has become popular around the 2nd and 3rd centuries (Fig. 2). This wheel-shaped structure is similar to a large-scale tomb of the Roman world and the emperor's temple (Mausoleum of Augustus, Mausoleum of Hadrian), and there are also theories that it seems to be influenced. Also, in India there has been a provision to lay bricks like wheels the base of altar of the sacred fire since the ancient times, which may have its influence.

[45] Nalinaksha Dutt, *Buddhist Sects in India,* Delhi, 1970, pp.51-59.
P.V. Bapat, *2500 Years of Buddhism,* Delhi, Eight Reprint,2014, pp.92-104.

Furthermore, it seems that the Buddha statue began to be modeled in South India around the end of the second century, mainly in the 3rd century. In southern India, a single Buddha statue was not found in large number, but still life-size Buddha statues were excavated from some ruins in addition to Amarāvatī and Nāgārjunakoṇḍa. It can be seen that they were being worshiped in the shrine.

Among them, Nāgārjunakoṇḍa's example counts more than 10, probably the most in South India. Most of them are standing Buddha statues. The style of the statue also faithfully inherits that of Amarāvatī. The flesh of the head is represented by low protuberance, and the head is aligned with the spiral hair. Buddha statue of South India represented by Amarāvatī and Nāgārjunakoṇḍa has become a direct model of some Buddha statues in Sri Lanka and even in Southeast Asia.[46]

Many relief sculptures have been found from Buddhist remains of Nāgārjunakoṇḍa. They have strong characteristics of traditional Amarāvatī arts. Limestone is used for these stones. In addition to illustrated stūpa as a theme, there are many narrative charts of Jātaka and illustrated Biographies of the Buddha and others. The symbolic expression of Buddha also continues and on the whole the expression of Buddha image is generalized. However, decorative arts such as lotus designs and patterns of their meshes decline. It is interesting that Mituna image shows an unique development.

There are numerous excavated items related to Buddhist arts in Nāgārjunakoṇḍa. Considering the main things excavated, the most abundant structure that decorated the surface of stūpa is a piece of relief such as a stone plate, column shields, some sculpted limestone railings etc. These are using the same green

Fig. 3 Pair of standing Yakṣas. Ikṣvāku Period. From Nāgārjunakoṇḍa, Andhra Pradesh, India. Archaeological Museum, Nāgārjunakoṇḍa

[46] Catherine Becker, *Shifting Stones, Shaping the Past*: Sculpture from the Buddhist Stūpas of Andhra Pradesh, Oxford University Press, 2015, pp.159-161

marble quality as Amarāvatī.

There are many Jātakas and illustrated Biographies of the Buddha relief in the Andhra region, and they inherited the image of Amarāvatī, in addition to new theme. "Mandhata Jataka" is related to Cakravarti-rājan, which was influenced by Amarāvatī and most of the Nāgārjunakoṇḍa were adopted from Mandhata Jataka.

Looking at Amarāvatī's illustrated Biographies of the Buddha, interesting episodes before and after birth were preferred. Furthermore, the image was inherited to Nāgārjunakoṇḍa. In the illustrated Biographies of the Buddha and Mithuna statue, Pūrṇaghaṭa, Acanthus, Lotus, Lion, Camel, Makara, Garland etc. it is noteworthy that the representation of the ancient faction represented by the sign remains without drawing the statue of Buddha.

Yakṣī goddess and Yakṣa god are popular in South India. The dwarf Yakṣa had a humorous bastard which was much liked (Fig. 3). This probably would have been placed on both sides of stūpa or the temple entrance. It can be seen that it is a valuable statue showing the prototype of Yakṣa statue as a guardian god. The Buddha statue made of the same stone was placed inside the caitya of the temple. There are also terra-cotta of Hinduism, such as Yakṣa statue and Karltikaya statue, and also there are animals such as horse, cow, elephant, monkey and lion beside the statue of goddess, Haritei and Mitna.

From the viewpoint of the modeling style, Nāgārjunakoṇḍa also inherits the dense accumulation and exercise the feeling of flexible and free expression of human body and tales relief found in Amarāvatī arts. Narrative carvings are rich in dynamism. Although the composition is skillful, the three-dimensional sense of depth disappears, and instead movement to complicatedness becomes noticeable.

Buddhist arts of Nāgārjunakoṇḍa praises Buddha for its narrative richness as a great religion. These are the keynotes of the illustrated Biographies of Buddha's carvings of this area and rather than emphasizing "edification" to people, the thought of 'devotion' with affection for Buddha is conveyed. It is known from the inscription that Nāgārjunakoṇḍa's stūpa, monasteries, or relief donor has many women of the royal aristocracy.[47] From that it can be seen and heard that their wishes are reflected in the illustrated Buddha embossed carving. It is also true that Nāgārjunakoṇḍa has many themes related to women and sexual relations.

[47] Stone,E.R., *The Buddhist Art of Nāgārjunakoṇḍa,* Buddhist Tradition Series vol,25 Delhi, 1992,pp.11-129.

The king himself is a follower of Hinduism, but the women and merchants of the royal family actively donated temples and sculptures of Buddhist monasteries. It is thought that the background of urban society culture was centered on wealthy aristocrats and merchants. In Nāgārjunakoṇḍa, the donation of monks has been reduced and the contributions of the believers (mostly female believers) increased and became the subject. The stūpas belonged to Early Buddhist Schools and not Mahāyāna Buddhism. Also, Early Buddhist Schools were supported by believers in Buddhism.

As seen, many relief sculptures of the Buddhist pictures have been excavated. Those inherit the modeling style of Amarāvatī, increasing delicacy and the human body is full of movement.

Buddhist arts of Nāgārjunakoṇḍa is closely related to the Buddhist literature of "Buddhacarita" and "Lalitavistara" which praises the narrative greatly as Buddha as a great religion. For example, it does not emphasize the supernatural power of Buddha like Buddhist arts of Gandhāra, not the "edification" to people, but the thought of "devotion" with affection for Buddha is conveyed. There are many aristocratic women as donors, and it is thought that their intention is reflected.

It can be seen that Buddhist arts of Nāgārjunakoṇḍa ended with the decline of Ikṣvākus in the middle of the 4th century. However, since then Buddhist arts has not disappeared in southern India, Buddha statues of the 6th and 7th centuries are also known. In addition, Amarāvatī excavated many small relief statues including statues of Esoteric Buddhism from the 8th and 9th centuries. In South India, while being under the prosperity of Hinduism, it can be seen that Buddhist arts kept the vein for a long time.

Coins made of copper of the Sātavāhanas dynasty and lead carved in the names of the three kings of the Ikuṣhvākus dynasty (Chāṁtamūla, Vīrapurushadatta, Ehuvala Chāṁtamūla) have been found in money. Besides that, Roman gold coins such as August, Tiberius, Hadrianus (A.D.117-138), Faustina (A.D.141) have been excavated.[48] Also, some kinds of gold jewelries have been excavated. Therefore, from these facts, it is thought that there was a direct trade with the West.

In addition, many inscriptions have been unearthed from this area. Among them, the Ikuṣhvākus dynasty pursued at that time. This is the royal system of

[48] Dr.B.Subrahmanyam J.Vijaya Kumar Dr.K.Padmanabha General Editor: Prof.P.Chenna Reddy; *Coinage of the Ikshavakus,* Department of Archaeology & Museums, Gaverment of Andhra Pradesh, 2011;
Dr.B.Subrahmanyam Dr.G.V.Rama Krishna Rao P.Brahma Chary General Editor: Prof.P.Chenna Reddy; *Roman Gold Coins,* Department of Archaeology and Museums, Gaverment of Andhra Pradesh, 2008.

Ayodhyā which is written in Rāmāyaṇa, and the names of the following kings are known by inscriptions.

The first generation of king is Sire Chāṁtamūla (Skt. Śrī Kṣāntimūla). He believed in Hinduism and built the site of a religious service such as Asvamedha.

The second generation of king is Siri Virapurisadata (Skt. Śrī Vīrapuruṣadatta). He built a barrier in the valley. He had five princesses, and they especially believed in Buddhism and built a Buddhist temple.

The third generation of king is Ehuvala Chantamura (Skt. Bahubala Kṣāntimūla). He also believed in Hinduism and built along the right bank the Pushpab Hadraswami Shrine, the Salvadiva Shrine, the Karltikaya Shrine and so on. However, even now, there were many Buddhist believers in the princess and merchants, and many Buddhist temples were built by them.

The fourth generation of king is Ruthrapurisadata (Skt. Rudrapuruṣadatta). Furthermore, it is presumed that the fifth generation of king was Vīrapuruṣadatta II recently. The kings of the fourth and the fifth generation are both children of the third generation king.

Vijayapurī had wide negotiations overseas as well, especially the relationship with Sri Lanka is deep. A semi-circular plate-shaped Moonstone,[49] a Sri Lankan Buddhist temple was built and laid at the entrance of the temple, is unique to the architecture of Sri Lanka Buddhist monasteries.[50] Also in the inscription are the names of countries such as Kashmira, Gandhāra, Tena (China), Kirathayahavana (Greece), Damira (Dravida). The degree of prosperity is fulfilled at that time.

From the inscription, it can be understood that there was a temple which was connected to Aparaseliya school, but the features of Buddha temple and the structure of stūpa in this area are common to Sri Lankan and Bahusutīya.

Many relief sculptures have been found from Buddhist remains of Nāgārjunakoṇḍa. Tradition of the arts in Amarāvatī strongly work for them. For example, limestone was used as the stones. In addition to the stūpa diagram as a theme, there are many illustrated Biographies of the Buddha, Jātakas and the Buddha statues. The symbolic expression of Buddha also continues, but on the whole the expression of Buddha image is generalized and decorative arts such as

[49] Sandakada pahana, also known as Moon-stone, is a unique feature of the Sinhalese architecture of ancient Sri Lanka. It is an elaborately carved semi-circular stone slab, usually placed at the bottom of staircases and entrances. First seen in the latter stage of the Anuradhapura period, the sandakada pahana evolved through the Polonnaruwa, Gampola and Kandy period. According to historians, the sandakada pahana symbolises the cycle of Saṃsāra in Buddhism. Wikipedia

[50] Virender Kumar Dabral, *Buddhist Art in India and Sri Lanka,* 3rd Century BC to 6th Century AD□A Critical Study, Delhi, 2000, pp.35-37.

lotus designs and patterns of their meshes declined. It is interesting that the Mithuna image shows a unique development as well.

From the viewpoint of the modeling style, Nāgārjunakoṇḍa also inherits the dense accumulation and exercise the feeling of flexible and free expression of human body and tales relief found in Amarāvatī arts.[51]

It can be considered that the Buddhist arts of Nāgārjunakoṇḍa has come to an end with the decline of the Ikṣvākus in the mid of 4th century. However, after that, Buddhist arts have not disappeared in South India. It is because the Buddha statue of the 6th and the 7th century is known. In addition, Amarāvatī excavated many small relief images including statues of Esoteric Buddhism from the 8th to the 9th century. In South India, while being under the prosperity of Hinduism, it can be seen that Buddhist arts kept the vein for a long time.

The early Buddhist schools which had influence in South India were Caitika, Aparaseliya, Uttaraśaila, Pubbaseliya and others. The base of Aparaseliya was in Nāgārjunakoṇḍa. A large stūpa with a diameter of 27.2 meters was built there. It is a big feature though it is constructed by grilled bricks loaded in a shape of wheel (mosaic of wheels). In the construction of Ikuṣhvākus almost one century later than the Amarāvatī stūpa, except for the wheel type, it is almost the same structure. Regarding the wheel type base plan, it was also found in Gandhara Taxilla stūpa, but widely recognized in South India.

At the time, in South India the trade with Rome was flourishing and also there are theories that it was influenced by the large-scale burial grave and mausoleum of Roman Emperor. Also in India there is a provision that from the ancient times the base of the sacred fire altar is laid like a wheel shape with bricks. It may be possible to consider the influence.

The inscription on this large stūpa of Nāgārjunakoṇḍa clearly states that this stūpa belongs to the school of Aparaseliya priests. It is said that the monks of Aparaseliya were holding and reciting the different scriptures from Mahāyāna Buddhism, but the believers were like Mahāyāna Buddhist style. The remaining Uttaraśaila and Pubbaseliya were derived from the school of Caitika and Aparaseliya. Although, it is thought that they owned big stūpa, but they have not been found yet.

The place where believers' donation was high is not necessarily a region where Mahāyāna Buddhism was popular. Therefore, the place where the stūpa of Mahāyāna Buddhism existed does not necessarily correspond to it.

[51] A. H. Longhurst: *The Buddhist Antiquities of Nāgārjunakoṇḍa,* Government of India, Madras Presidency. Memoirs of the Archaeological Survey of India No.54.Reprint edition (New Delhi: Archaeological Survey of India,[1938])1999).

Sātavāhanas declined by the middle of the 3rd century, under the Ikuṣhvākus who had the power in place. They built capital facilities and also some Hindu and Buddhist temples in the capital of Vijayapurī.[52] Especially, Buddhist stūpa and monastery stand out, also many sculptures. However, in the middle of the 4th century, along with the collapse of Ikuṣhvākus and the decline of commercial trade, Buddhist arts declined rapidly in southern India. Therefore, single statues of Buddha were not made too much in South India, but in Amarāvatī and Nāgārjunakoṇḍa, life-sized Buddha statues have been excavated from some remains. It can be considered that they were placed in caitya and worshiped by people.

It seems that Buddha statues were to be modeled in South India around the end of the 2nd century, especially in the 3rd century. Such Buddha statues in south India had a great influence on the statues in Sri Lanka and South-east Asia. In southern India, it seems that a single Bodhisattva statue has not been built, and there is no example that is confirmed as a Bodhisattva image at the present time. This place will be related to the fact that traditional early Buddhist schools were flourishing.

There were several Hindu temples in Nāgārjunakoṇḍa which prospered under Ikuṣhvākus. It was also known that the Hindu temple was built in the late 3rd century. Therefore, it should not be only comprehended Buddhist art.[53]

The Buddhist stūpa called Mahācaitya is large in scale. It is known from the inscription that it was made with the help of king's sister. King himself was a follower of Hinduism, but the women and merchants of the royal family actively donated temples and sculptures of Buddhist temples. There are many aristocratic women as donors, and their intention is reflected. A large number of relief sculptures in the Buddhist diagram have been excavated and succeeded to the modeling style of Amarāvatī, but the human body image is overflowing with more delicacy.

Along with the collapse of Ikuṣhvākus in the middle of the 4th century, Buddhist arts in southern India declined rapidly with the loss of its patron. But then, Buddhist arts has not completely disappeared in southern India.[54] Buddhist statues of the 6th and 7th century and relief statues including Tantric statues of the 9th and 10th century as well as bronze statues made of stone and bronze

[52] I.K.Sarma, *The Development of Early Śaiva Art and Architecture*, Delhi,1982,pp. 97-133

[53] H.Sarkar,*The Nāgārjunakoṇḍa Phase of the Lower Kṛṣṇā Valley Art: a Study Based on Epigraphical Data* in F.A. Asher & G.S. Gai eds., op. cit., pp. 29-34

[54] E.Hultzsch, "*Two Pillar Inscriptions at Amarāvatī," Epigraphia Indica*,1900-01,pp.155 and 157-60; S. Paranavitana, *"Gadaladeniya Rock Inscription of Dharmakīrtti Sthavira,"* Epigraphia Zeylanica V, 2, 1935,pp.146-60

belonging to the Chola[55](9th to 13th centuries) have also been found. In the South India, it is being revealed that Buddhist art has long been keeping its artery, despite the prosperity of Hinduism since the 6th century.

Reference

- Sree Padma amd A.W.Barber. *Buddhism in the Krishna River Valley of Andhra,* New York:SUNY Press, 2008
- Upinder Singh. *The Idea of Ancient India: Essays on Religion, Politics, and Archaeology,*New Delhi:SAGE Publications India, 2016
- Elizabeth Rosen Stone. *The Buddhist Art of Nāgārjunakoṇḍa,* Delhi: Motilal Banarsidass Publishers, 1994

- K. Krishna Murthy. *Nāgārjunakoṇḍā: A Cultural Study,* Delhi: Concept Publishing Company,1977
- K. Rama, *Buddhist Art of Nāgārjunakoṇḍa,* Delhi: Sundeep Prakashan, 1995
- K.Raghunath. *The Ikṣvākus of Vijayapuri: a study of the Nagarjunakonda inscriptions,*Delhi: Eastern Book Linkers, 2001
- I.K.Sarma. *Coinage of The Sātavāhana empire*, Delhi: Agam Kala Prakashan,1980
- *Indian Archaeology: A Review,*1954-55,1955-56,1957-58,1958-59,1959-60

[55] The Chola dynasty was one of the longest-ruling dynasties in the history of southern India. The earliest datable references to this Tamil dynasty are in inscriptions from the 3rd century BCE left by Ashoka, of the Maurya Empire. As one of the Three Crowned Kings of Tamilakam, the dynasty continued to govern over varying territory until the 13th century CE. Wikipedia

Bodhi Path, July 2018 Issue 15
ISSN 2347-8004

Monastic vis-à-vis Social Dimension of *Paccekabuddha*: "A Theological Initiative in Buddhist Approach to Interfaith Dialogue"

Van Phuoc Bao
Department of Buddhist Studies,
University of Delhi

Abstract: While Mahāyāna notion of Bodhisattva has been explicitly employed as a useful ideology of the socially engaged Buddhism, the Paccekabuddha notion of Theravāda does not seem to play an active role in society. As far as the social dimension is concerned, this negative value of the Paccekabuddha should be re-examined as this concept implies a dynamic insight for the interfaith dialogue. I understand interreligious dialogue as an active interaction with religious others. Genuine dialogue requires a respectful attitude towards others without any superior mindset. It acknowledges the equality and spiritual value of religious others. In this regard, the paper points out that rather than Bodhisattva, Paccekabuddha concept reflects the first attempt of Buddhist to acknowledge the spiritual value of religious others. It reflects a typical approach of early Buddhism to religious diversity when it turns Buddhist attention to the existence of religious others, and dialogues with others outside their monasticism. However, this role seems to be ignored and replaced by the emergent Mahāyāna concept of Bodhisattva. So, the author suggests seeing the equivalence of two notions regarding their dynamic functions in approaching religious diversity.

Keywords: Paccekabuddha, Interfaith Dialogue, Triyāna theory, Liberation, Saṃgha, Monasticism, anonymous Buddhist.

Introduction

The paper starts with some critical questions: (1) Who is a Paccekabuddha? Whether the Paccekabuddha is "Buddhist"? (3) What are the implications of this concept for interfaith dialogue? and leaves the answer for the rest. In brief, the concept of Paccekabuddha implies a possibility of liberation outside Buddhist

monasticism, without depending on the existence of Buddhism, i.e. the Buddha, his Dhamma, and his Saṃgha.

Interestingly, along with Paccekabuddha, Bodhisattva concept implies Buddhist acknowledgement of liberation outside its community. While Bodhisattva seems to play an active role in the social dimension, Paccekabuddha has a significant role in its doctrinal justification for accepting liberation of others. If we assume the existence of Pāli canon before the Mahāyāna sutta, Paccekabuddha notion seems to be the first attempt to turn Buddhist attention to the existence of religious others. While Bodhisattva is an inspired notion of Mahāyāna that became an influenced movement to open up a new horizon of the "Buddhist" spiritual attainment outside Monasticism, Paccekabuddha seems to be a first attempt to look at "Buddhist" sages in other community. It reflects an active dialogue and admiration of Buddhists with others, and how early Buddhists perceived the sages of others and their community. It indicates a Buddhist acknowledgement and appreciation of the spiritual value of other traditions with an open attitude. So, in the following passages, the paper will focus on the notion of Paccekabuddha as a theological initiative in Buddhist approach to religious diversity and looks at it as a kind of doctrinal justifications or criteria of early Buddhists in acknowledging the spiritual value of others. Bodhisattva concept is merely mentioned for the compared purpose.

As a religio-social concept, Bodhisattva may refer to anyone who makes a significant contribution for the society. So Buddhist may see Zen Master Thich Quang Duc, B.R. Ambedkar, Mother Teresa,[56] or Jesus as Bodhisattvas[57] with an "inclusivist stance" and "single religious end".[58] While they are respected as Bodhisattvas (in a loose or whatever sense), indeed, no Buddhists have ever called them Paccekabuddhas! Interestingly, the tendency to acknowledge the religious other sages as Bodhisattvas, or "anonymous Buddhists" does not have to wait until the emergence of Mahāyāna. Instead, from the doctrinal aspect, Buddhists have long seen religious other sages as Paccekabuddhas with all neutral criteria of this notion. While the Bodhisattva concept contains in itself the justification for admiring the significant contribution of other religious sages to society, Paccekabuddha notion in Theravāda tradition actively acknowledges

[56] See Karma Lekshe Tsomo (March 2012), "Mother Teresa and the Bodhisattva Ideal: A Buddhist View," *Journal of Dialogue & Culture*, vol.1, no.1.

[57] See works of Thich Nhat Hanh, i.e. *Going Home: Jesus and Buddha as Brothers*; *The Raft is not the Shore: Conversations Toward a Buddhist/Christian Awareness*; *Living Buddha, Living Christ*. To understand further how Jesus is seen through Buddhist eyes, see Elizabeth J. Harris (April 2003), "Jesus and Buddhists," *The Way*, 42/2, p.117-134.

[58] Kristin Beise Kiblinger (2005), *Buddhist Inclusivism: Attitudes Towards Religious Others*, London & New York: Routledge, p.92.

the liberated persons in other religions, who are independent of the Buddha, the Dhamma, and the Saṃgha. With such a brief introduction, the paper will investigate the position of Paccekabuddha and how it is qualified in the Buddhist text, then, looks at the Paccekabuddha notion as a theological initiative for Buddhists to dialogue with religious others. Finally, it attempts to shed some light on the significant contributions of this concept in constructing the Buddhist approach to religious diversity.

Position and qualification of Paccekabuddha in the Buddhist text

Buddhist traditions acknowledge three types of awakened beings (Buddhas) in a hierarchy: Arahant or Sāvakabuddhas (Skt. Śrāvakabuddhas), Paccekabuddhas (Skt. Pratyekabuddhas), and Sammāsambuddhas (Skt. Samyaksambuddhas). The Pāli sutta seems to place Paccekabuddha in a high position ranked equal just after Sammāsambuddha but before Arahant. From Mahāyāna view, with the emergence of Bodhisattva notion, Paccekabuddha is backward one step lower and far from Sammāsambuddha. These two concepts are opposite in their roles and hierarchically ranked as two distinct states of liberation according to their soteriological potentiality and social ability.

In Mahāyāna, along with Sāvaka, Paccekabuddha is hidden in a lower position to a higher Bodhisattva ideology. The *Saddharmapuṇḍarīka Sūtra* and the *Mahāyānasūtrālaṃkāra* combine all three concepts and create the so-called three vehicles theory (Triyana) to contrast with the one vehicle theory (Ekayāna, i.e. Buddhahood). While Savaka practices the Four Noble Truth, interestingly Paccekabuddha is supposed to get enlightenment from recognizing the Dependent Origination (Paṭiccasamuppāda), an essential and unique doctrine in all Buddhist traditions! Bodhisattva practice six pāramitās, amongst that generosity or merit making (*dāna*) directs the implication of concept to the social welfare, is listed in the first position. Whereas, Paccekabuddha is the one who gets liberation by himself and for himself, who separates from society (Nekkhamma)[59] and does not make any benefits, is slowly ignored.

With a hierarchical ranking, starts from Savaka to Paccekabuddha then to Bodhisattva, the Triyāna theory seems to redeem the role of Paccekabuddha in the social context and ignore its spiritual value that should be respected and honoured like that in the early Buddhism. However, the negative image of Paccekabuddha in these Mahāyāna suttas is recently displaced by a positive re-evaluation from the viewpoint of theology. Kristin Beise Kiblinger suggests

[59] Renunciation (Nekkhamma) is one of ten *pāramitās* according to Pāli tradition.

seeing the Triyāna theory a potentiality for constructing the so-called Buddhist inclusivism that promotes multiple ends, instead of the Ekayāna theory that supports the single end inclusivism.[60]

While 'Arahant' and 'Buddha' concepts are the recurrent themes in Buddhist literature, Paccekabuddha is rarely mentioned in both the Mahāyāna and Theravāda suttas. It is found to exist firstly in the Pāli Canon, the Isigili Sutta (M. 116) [61] in which the Gotama Buddha reveals that five hundred Paccekabuddhas were living in Isigili Mountain. Paccekabuddhas with different names and abilities are listed in this sutta such as Paccekabuddha called Ariṭṭha, Upariṭṭha, Tagarasikhi, Yasassi, Sudassana, Piyadassi, Gandhāra, Piṇḍola, Upasabha, Nitha, Tatha, Sutava, and Bhavitatta. They are portrayed as those who are "free from sorrow and desire," "overcome their passions," "have individually attained enlightenment," "noble among men," "the enlightened," "desire for becoming is destroyed," "the enlightened one," "removed defilements, the root of suffering," "the destroyers of pride," "bearing his last body," "destroyer of the bonds of becoming," "the destroyer of craving," "the lust free," "cut away the ensnaring root of suffering," attained state of Calm," "well freed in mind." The Sutta remarks that: "These and others are Paccekabuddhas of great power whose desires for becoming (re-living) are destroyed. Do salute these great sages of immeasurable (virtue) who have gone beyond all attachment and attained Parinibbāna."[62] All these qualities make Paccekabuddhas a high position that the Gotama Buddha advised his disciples to honour them.

Unfortunately, the Isigili Sutta does not give us precise information on the relationship of the Paccekabuddha and the Gotama Buddha, or the Sammāsambuddha. Whether they get the same liberation (fully enlightened)? Whether they can coexist together? Whether Paccekabuddha belongs to "Buddhist" tradition or belongs to other religious traditions? The Sutta mentioned only five hundred Paccekabuddhas who used to live in this Isigili Mountain. With this piece of information, therefore, it is uncertainty to conclude that Paccekabuddha cannot exist at the time when the Sammāsabuddha appeared in this world, and Paccekabuddha is a 'Buddhist'. Apart from above qualities as

[60] Kristin Beise Kiblinger (2005), *Buddhist Inclusivism: Attitudes Towards Religious Others*, London & New York: Routledge, p.78.

61 Its counterpart is found in the Chinese Ekottarika-Āgama (EA 38.7 at T II 723a-c); See Bhikkhu Analayo (2010), "Paccekabuddhas in the Isigili-sutta and its Ekottarika-āgama Parallel," *Canadian Journal of Buddhist Studies*, no. 6, p.9.

[62] Translated by Piyadassi Thera, https://www.accesstoinsight.org/tipitaka/mn/mn.116.piya.html.

found in the Pāli *Isigili Sutta*, its Chinese counterpart in the *Ekottarika Āgama* portrays Paccekabuddha with some alternative features:

(1) Five hundred Paccekabuddhas existed before the Gotama Buddha, but they all decided to cremate their bodies and attained Nirvana when knowing that the latter will appear soon in this world. Because the Sutta explains this strange activity, "there cannot be two [persons] called Buddhas in the world [at the same time]". Like there cannot be two leaders among travelling merchants or two kings in one country, so there cannot be two [persons] called "Supreme One" in one Buddha-field. The Sutta shows that five hundred Paccekabuddhas could co-exist together (not single), but none of them can co-exist with the Gotama Buddha (or Sammāsambuddha).

(2) When knowing in the next two years a Buddha-to-be (staying in Tusita Heaven) will appear in the world, they all decided to cremate their bodies. This seems to indicate, Analayo says, that even with a Bodhisattva, who is in the final life of his career, not yet a fully awakened Buddha, it is not possible for Paccekabuddhas to co-exist with him.[63]

(3) The Sutta also describes how one becomes a Paccekabuddha. That, He recollects and is afraid of the suffering in hell; leads a homeless life, realises the impermanent nature of the five aggregates. Having completely realised that "all that is of a nature to arise is of a nature to cease", he accomplished the path of a Paccekabuddha. Another discourse in the *Ekottarika Āgama* (EA 50.10 at T II 814a13) describes the impossible co-existence of Sammāsambuddha and Paccekabuddha:

(4) In a whole aeon when the Buddha arises, there will be no Paccekabuddhas. They can appear only in the aeon when no Buddha exists. The Sutta reads: "In an aeon when no Buddha appears in the world, at the time there are Paccekabuddhas who appear in the world − this is called a small aeon. In an aeon when a Tathāgata appears in the world, at that time and in that aeon there are no Paccekabuddhas who appear in the world − this is called a great aeon." Again, another discourse in the *Ekottarika Āgama* (EA32.5 at T II 676c18) describes:

(5) Paccekabuddhas have no disciples, no followers; and they do not teach the Dhamma to anyone. These attributions of Paccekabuddha are inferred from the Agama of the Sarvastivada, existed in the Chinese canon. Comparing the Pāli Isigili Sutta with its *Ekottarika Āgama* parallel, Analayo points out that,

[63] Bhikkhu Analayo (2010), "Paccekabuddhas in the Isigili-sutta and its Ekottarika-agama Parallel." *Canadian Journal of Buddhist Studies*, no. 6, p.15.

there seems to exist "some degree of development" and "later expansions" in both versions specific to each tradition and its viewpoint.[64]

The theological initiative of the Paccekabuddha notion

The Theravada notion of Paccekabuddha likely shed much light on the issue of religious diversity. According to Abraham, the Paccekabuddha notion is substantial evidence against Buddhist exclusivism. By this notion, Kulatissa Nanda Jayatileke developed an inclusivist position and Schmidt-Leukel recognizes the doctrinal implication for pluralism. Schmidt-Leukel says, Paccekabuddha doctrine in early Buddhism likely provides "possible starting points for breaking up Theravada exclusivism and thus eventually paving the way for pluralism."[65]

However, there exists a vigorous debate amongst scholars on this notion with different interpretations and implications, i.e. the time when a Paccekabuddha could exist in this world, and whether he can appear at the same time with a fully enlightened Buddha. Abraham criticizes a doctrinal criterion in the Theravāda Buddhism that holds that a Paccekabuddha can exist only when a fully enlightened Buddha and his Saṃgha disappeared.[66] He, nevertheless, as Schmidt-Leukel points out, does not note the inner-Theravada debate regarding whether or not other religious teachings may have "any positive role in a pratyekabuddha's achievement."[67] A typical instance is a debate between K. N. Jayatilleke and Dhammavisuddhi. K. N. Jayatilleke develops an inclusivist position on the Paccekabuddha doctrine and the neutral criterion of Noble Eightfold Path. [68] However, questioning against this interpretation, Dhammavisuddhi says although information from the Pāli sutta implies the possibility of liberation outside the Buddhist community, this does not lead to the conclusion that it happens "within other religious frameworks." For him, the path shown by the Buddha is the only path leads to liberation. Although those who exists independently from Buddhism can discover, it remains distinct from

64 Bhikkhu Analayo (2010), "Paccekabuddhas in the Isigili-sutta and its Ekottarika-agama Parallel." *Canadian Journal of Buddhist Studies*, no.6, p. 16.
65 Schmidt Leukel, (2017), *Religious Pluralism and Interreligious Theology,* New York: Orbis Books, p.77.
66 See Abraham Velez de Cea, (2013), *The Buddha and Religious Diversity*, New York: Routledge, p. 99-104.
67 Schmidt Leukel, (2017), *Religious Pluralism and Interreligious Theology,* New York: Orbis Books, p.79.
68 See Jayatilleke, "The Buddhist Attitude to Other Religions," in Perry Schmidt-Leukel ed., (2013), *Buddhism and Religious Diversity: Critical Concepts in Religious Studies*, vol. IV, London & New York: Routledge: p. 88-108.

religious other's teachings.[69] It is still an ongoing debate for Theravāda Buddhism to accept the existence of liberation as that of Paccekabuddha within other religions. As Lily de Silva points out, Theravāda Buddhism did not assume Paccekabuddhas exist independence of Buddhism at a time when the full teachings (Dhamma) of Śākyamuni Buddha is still available.[70]

Some Buddhist notions with their flexible meaning gave rise to different interpretations. For the relevance of the Paccekabuddha notion in the interfaith dialogue, therefore, we assume to draw out some essential characters from both the Pāli Nikāya and Chinese Āgama. However, the more we investigate this concept, the more we understand precisely what this notion meant in constructing Buddhist position and its approach to religious diversity. Although there is a slight disagreement among scholars as to whether Paccekabuddha can co-exist with Sammāsambuddha, following characteristics are commonly accepted as attributions of a Paccekabuddha that distinguish him from other Buddhas (Sāvakabuddha and Sammāsambuddha): (1) He realises the truth and attains liberation by himself, without a teacher. He does not depend on any Sammāsambuddha, even Gotama Buddha, or not hearing his teaching, not under his guidance for that spiritual attainment (M.iii.69). (2) Unlike Sammāsambuddha, Paccekabuddha does not deliver Dhamma but refers to remain in solitude. (3) He does not establish a Saṃgha.

Paccekabuddhas exists independence of Buddhist monasticism, i.e. without depending on the Gotama Buddha, hearing his Dhamma, living under his guidance (Saṃgha). In sum, his existence and his spiritual achievement have no connection with all three Jewels that constitute a so-called Buddhism. This results in a new standard of spiritual liberation and the role of Buddhist Saṃgha. Liberation in this notion does not label in any religious institution, even Buddhism that promotes this concept. No religious organization has right to claim the monopoly of truth or liberation. To be a member of Buddhist Saṃgha is a privilege and may guarantee his or her spiritual liberation. However, to be not a Saṃgha's member, he or she also has a chance to get liberation and deserves honourable.[71]

---

[69] See Ven. Yatadolawatte Dhammavisuddhi, "Does Buddhism Recognize Liberation from Samsara outside its own Dispensation?" Perry Schmidt-Leukel ed., (2013), *Buddhism and Religious Diversity: Critical Concepts in Religious Studies*, vol. IV, London & New York: Routledge: p. 109-116.

[70] See Lily de Silva, "The Buddha, the Eightfold Path and the other religions," in Perry Schmidt-Leukel, ed., (2013). *Buddhism and Religious Diversity: Critical Concepts in Religious Studies,* vol. IV, London & New York: Routledge, p.117-129.

[71] This un-dogmatic attitude to the potentiality of liberation outside Buddhist Saṃgha is also found in other Pāli Suttas. With neutral criteria, the Sotāpattisaṃyutta (S. v. 379) states that those who have no conviction in the Buddha, Dhamma and Saṃgha, but who are endowed with the spiritual faculties of faith or self-confidence

In sum, the Pāli Suttas accept Paccekabuddhas as those who discover the truth for themselves and get enlightenment, not through the historical Buddha's teachings. They have not heard his teachings and practised under his guidance. Their existence is free entirely from any criteria of "Buddhism", and their achievement does not depend on whether Buddhism or the Buddha exists. They don not have to take refuge in the Three Jewels. However, one neutral criterion remains, i.e. to be a Paccekabuddha, he should fulfil the noble eightfold path, realise the impermanent nature of five aggregates, recognise the four noble truths and the dependent origination. For Buddhists, these principles are not the monopoly of Buddhism, but rather a neutral and universal operation in the process of liberation. We can infer, J. Abraham Velez de Cea says, if possible that, although the Gotama Buddha discovered and delivered truth in these forms, religious others likely uncover and describe them in other shapes and names. They may contain the same potentiality of liberation as that of the Buddha's. The Buddha does not claim to exhaust all the truth, and he also does not intend to deliver all kind of the truth, but only those consistencies with liberation (*Simsapa Sutta*, S.56.31). Further, Truth or Dhamma according to Buddhism has 84.000 nuances. They are delivered as antidotes for different defilements by the skillful means of the Buddha. Therefore, the above principles taught by the Buddha may be seen as "Buddhist" representatives of Truth, manifested in the forms of the four noble truth, the five aggregates, the noble eightfold path. In other words, religious others may present the Truth in other forms.[72]

Regarding the possible co-existence of Paccekabuddha and Sammāsambuddha, although Theravada tradition does not accept the simultaneous existence of two "fully-enlightenment Buddha" [73], it does not mention whether or not Paccekabuddha (if Paccekabuddha is not understood as Sammāsambuddha) and Sammāsambuddha can exist at the same time in this world. What the Pāli nikāya (M.III.65; A.I.27-8; D.II.225) states is that the arising of two Buddhas in one universe at the same time is impossible.[74] Further, the Milindapañha (236-9) explains several reasons why two Sammāsambuddhas cannot exist

(Saddhā), energy (Viriya), mindfulness (Sati), concentration (Samādhi), and wisdom (Paññā), are not born in states of woe (Duggati). The Nagaravindeyya Sutta (M. 150) gives us the possibility of liberation in other traditions with neutral criteria that any recluses who have eliminated greed, hatred, and delusion and those who have embarked on a course to put an end to these negative traits, deserved to be honoured.

[72] See new representatives of Dhamma in J. Abraham Velez de Cea (2013), *The Buddha and Religious Diversity,* New York: Routledge.

[73] The Mahāgovinda Sutta (D.II.225) reads that: "It is impossible, gentlemen, it cannot happen that two fully-enlightenment Buddhas should arise simultaneously in a single world system." Impossible of co-existence of two Buddhas, see more in M.III.65; A.I.27-8.

[74] J. Abraham Velez de Cea (2013), *The Buddha and Religious Diversity,* New York: Routledge, p. 100.

simultaneously in one universe. However, like J. Abraham Velez de Cea, Ria Kloppenborg points out, none of the texts in the Pāli canon suggests that Paccekabuddhas cannot exist simultaneously with Buddhas in the same universe.[75]

While the Chinese Agama does not promote the existence of two Sammāsambuddhas at the same time in one world, we do not get a clear understanding whether it perceives the equality of spiritual achievement (fully enlightenment) of Paccekabuddha and Sammāsambuddha. Explaining for the intentional cremation, the Chinese Agama gives us two examples and a conclusion that seem to suggest the equal spiritual status of Paccekabuddha with Sammāsambuddha: Like, there cannot be two leaders among travelling merchants or two kings in one country, so there cannot be two [persons] called "Supreme One" in one Buddha-field. If Paccekabuddha is a Sammāsambuddha, then their co-existence is impossible, because this world cannot convey at the same time the splendid of two supreme Buddhas. However, if he is not understood as a 'fully enlightenment" Buddha, then their co-existence is possible. He does not have to sacrifice himself for the presence of other! However, it is also possible that the similes and conclusion in this Sutta of Agama are not entirely consistent in conveying its view. Meanwhile, we should not depend heavily on the simile, analogy to interpret the Dhamma; keeping in mind that other Suttas in the Chinese Agamas, if any, may give sound justifications and more suitable similes. The present research does not claim to comprehend all aspects of Paccekabuddha, but attempt to show its relevance for understanding early Buddhist approach to interfaith dialogue.

Paccekabuddha in the context of religious diversity

Paccekabuddha notion plays an initiative role in opening a new vista of Buddhist dialogue with religious others. Early Buddhists gave their attention to the existence of religious others, instead of looking inward and ignoring spiritual values of others. They acknowledged the liberation of others, outside the monastery. The insight of this concept leads to a non-exclusivist interpretation of the Buddha's approach. Buddhism does not claim to possess the monopoly of truth or liberation. Buddhist also does not claim that only in Buddhism, not in other traditions, liberation is found. So, this idea should be seen as the first and foremost step for a genuine dialogue to take place as it acknowledges the spiritual value of religious others and admires their contributions to society. In

[75] See Ria Kloppenborg (1974), *The Paccekabuddha: A Buddhist Ascetic,* Leiden, Brill.

other words, it points out at least an un-dogmatic approach of early Buddhism to religious others.

If Paccekabuddha is equal with the Gotama Buddha regarding spiritual liberation, then this is a sight of 'multiple-ends pluralism' in the language of the theology of religions. It further implies that the Paccekabuddha notion and Buddhist doctrines in general, contain an excellent potentiality for promoting a healthy environment of religious diversity, and shed much light on how Buddhists should approach and dialogue with religious others. In the context of religious intolerance and conflict, Paccekabuddha notion may be an practical solution as it acknowledges the existence of others, the spiritual value of others and promotes the shared wisdom permeated in all religious traditions.

Conclusion

Despite Buddhist 'inclusivism', the Pāli sutta contains some seeming superior claims and exclusive attitudes that likely violate the harmonious environment of the world religion.[76] These exclusive attitudes and superior claims seem to go against the prevalent movement of religious pluralism. In this regard, the concept of Paccekabuddha may play the negotiated role in the multiplicity of voices existed in Pali canon. It turns our attention to another dimension of the early Buddhist approach to religious diversity. While the superior claims approach religious others from the Monastic standpoint, this Paccebuddha notion approaches others in their respective position. The first is from monastic, and the second from social dimension. However, they are convergent in their neutral or non-specific tradition criteria such as noble eightfold path, dependent origination.[77]

As above discussed, the notion of Paccekabuddha in the early Buddhism contains great insight and useful advice for those Buddhists who engage in the interfaith dialogue. It should be seen as the first attempt of Buddhists to corporate and coexist with religious others, particularly with Jainism[78] in a shared heritage of India. It reflects a typical approach of early Buddhism to

[76] See D.16, the *Mahaparinibbāna Sutta*.

[77] See the existence of these two tendencies and approaches in Oliver Freiberger (July 2000), "Profiling the Sangha: Institutional and Non-Institutional Tendencies in Early Buddhist Teachings," *Marburg Journal of Religion*, Volume 5, No. 1.

[78] For the relation of this Buddhist concept of Paccekabuddha with Tirthankara in Jain tradition, see S. Vijitha Kumara (2016), "Jain Shade in Early Buddhism with reference to the Araka Sutta in the Aṅguttara Nikāya," *International Journal of Advanced Multidisciplinary Research* (IJAMR); Martin G. Wiltshire (1990) Ascetic Figures before and in Early Buddhism: The Emergence of Gautama as the Buddha, New York: Mouton de Gruyter; K.R. Norman (1983), "The Pratyeka-Buddha in Buddhism and Jainism", in P. Denwood ed., *Buddhist Studies: Ancient and Modern*, London: Curzon, pp. 92−106.

religious diversity. This role seems to be ignored and replaced by the emergence of Bodhisattva concept. However, in the present movement of interfaith dialogues, Buddhists need such initiated notions as that of Paccekabuddha to draw out their approach in discussing with others.

References

- Abraham Velez de Cea, J. (2013). *The Buddha and Religious Diversity*. New York: Routledge.
- Bhikkhu Analayo. (2010). "Paccekabuddhas in the Isigili-sutta and its Ekottarika-agama Parallel." *Canadian Journal of Buddhist Studies*, Number 6.
- Compson, Jane. (1998). "A Critical Analysis of John Hick's Pluralistic Hypothesis in the Light of the Buddha's Attitude Towards Others Teachings as Demonstrated in the Pāli Nikayas." PhD diss., University of Bristol.
- Dhammavisuddhi, Yatadolawatte. (2012). "Does Buddhism Recognize Liberation from Samsara outside its own Dispensation?" in Perry Schmidt-Leukel. Ed. *Buddhism and Religious Diversity: Critical Concepts in Religious Studies.* Vol. IV, London & New York: Routledge: 109-116.
- Freiberger, Oliver. (July 2000). "Profiling the Saṃgha: Institutional and Non-Institutional Tendencies in Early Buddhist Teachings," *Marburg Journal of Religion*, Volume 5, No. 1.
  Freiberger, Oliver. (2006). "Early Buddhism, Asceticism, and the Politics of the Middle Way," in Oliver Freiberger ed. *Asceticism and Its Critics: Historical Accounts and Comparative Perspectives*. Oxford & New York: Oxford University Press.
- Jayatilleke, K.N. *The Buddhist Attitude to Other Religions*. In Perry Schmidt-Leukel. Ed. (2013). *Buddhism and Religious Diversity: Critical Concepts in Religious Studies.* Volume 4. London & New York: Routledge: p.88-108.
- Kiblinger, Kristin Beise. (2005). *Buddhist Inclusivism: Attitudes Towards Religious Others*. London & New York: Routledge.
- Kloppenborg, Ria. (1974). *The Pacceka-buddha, A Buddhist Ascetic, A Study of the Concept of the Paccekabuddha in Pāli Canonical and Commentarial Literature*. Leiden: E.J. Brill.
- Schmidt-Leukel, Perry. Ed. (2013). *Buddhism and Religious Diversity: Critical Concepts in Religious Studies.* 4 Volumes. London & New York: Routledge.

- Schmidt-Leukel, Perry. (2017). Religious Pluralism & Interreligious Theology. New York: Orbis Books.
- Wiltshire, Martin G. (1990). *Ascetic Figures before and in Early Buddhism: The Emergence of Gautama as the Buddha*. New York: Mouton de Gruyter.

Rains Retreat And Robe Offering Ceremony

Sushma Shree
Research Scholar
Dept. of Buddhist Studies
Nava Nalanda Mahavihara' Nalanda
Email: kamarisushmashree589@gmail.com

From the time of the Buddha and even until now the 'Vass' period remains unchanged for Theravāda monks regardless of geographical and climatic differences. Kathina is a Buddhist festival which comes at the end of vassa, the three month rainy season retreat for Theravada Buddhists. Kathina can take place any time within a month from the end of vassa.

The history behind Kathina is that: According to the scriptures a group of thirty bhikkhus went on a journey to meet the Buddha with the intention of spending vassa with their master. However, vassa began before they could reach their destination. It was required by the rules that they stop travelling. So they had to spend their retreat at Sakerta. They were quite disappointed at not being able to be with their master. When vassa was over they continued their journey to meet the Buddha. During the time of the Buddha, there were no proper roads. During the monsoon season the roads became soggy and muddy. By this, these bhikkhus reached their master their robes were already muddy and drenched. They become uncomfortable and embarrassed wearing such wet and dirty robes in front of their master. So they sat some distance away from the Buddha. When the teacher saw their physical appearances the Buddha could easily tell they had a hard time during vassa. During the Buddha's time monks could not get new robes easily. They were not allowed to ask someone for it or borrow another

robe from another monk. They were also not allowed to have a spare robe at that time.

Seeing what they have endured, the Buddha decided to uplift their spirits by giving them an assignment to make the robe collectively from the Kathina cloth. He gave a piece of cloth to the monks and asked them to make a new robe for one among them. Everyone was encouraged to participate in the preparation.

Today the sewing of the robe is much easier as most of the facilities are available. The making of the robe during the early days was not simple. First they have to look all over for pieces of discarded cloth. Then the cloth has to be dyed with the sap from barks, leaves or flowers which usually give them an orange colour. That was how the robe was knows as a saffron robe. When they had enough cloth they will have to look for thread and needle to sew the robe by hand. In those days the method used involved spreading the piece of cloth on a frame and stitching them together. This frame is called a "Kathina" so the "Kathina" means "A wooden frame used when stitching the robes. Its use was allowed by the Buddha for the monks. The Buddha has asked the monks to use it properly and keep it carefully in the Kathinasala, i.e., the room in which the Kathina was used and kept. Any unscrupulous use of the Kathina may involve the offence of Dukkata.

Certain things have to be fulfilled before the ceremony can become meaningful. A sangha must consist of at least five bhikkhus. Four of them may decide officially to give the Kathina cloth to one bhikkhu. The monk appointed must have completed his vassa and participated in the first invitation. Those who have entered the first vassa and have broken it and those who entered the second vassa are not eligible to receive it. This means the Kathina month is the first month after the end of the first vassa, the last month of the rainy season.

Two ceremonies mark the end of the retreat. First is the invitation ceremony (Pavarana) and second is the "Robe offering ceremony. The invitation ceremony has to be held before the robe offering ceremony and this is purely a monastic practice.

From the early period utile now, lay supporters have made a point of offering the Kathina cloth at the end of the vassa.

The Kathina ceremony is an important occasion for all the receiver as well as for the giver. The giver takes interest in preparing the robes which are to be made within a single day starting from sunrise to the next sunrise where they prepare the treads to weaving them to dyeing them to stitching them and offering them

all within this period. Some rules they have to follow before the making thread and robe that is:

* Take proper bath
* Wash hair
* Have decent dress
* Take Pañca Sīla

And following category of persons are not allowed inside the barricaded area:

* Any made member
* Person without taking Pañca Sīla
* Person under influence of intoxication
* Woman in family away.

The cloth is formally presented to two bhikkhus that have been agreed upon by the Sangha. Then once the Kathin robe is ready it will be offered to the monk who has been nominated to receive the robe. The ceremony will end with a Dāna for the Mahasamgha.

The Kathina Dana is an occasion where we get an opportunity to offer robes and requisite to the sangha who have spent the three months rain retreat. The Kathina Ceremony is held in all the monasteries where monks have undertaken vassa but this can be done only once in one monastery and once a year. It is not only a merit making field but is also an occasion to rejoice, celebrate and thanksgiving to the Venerable monks and show our gratitude to the elderly and love to our young ones. It gives us an occasion to be together and share our joys and togetherness.

References:

1. Upasak, C. S., (2001), "Dictionary of Early Buddhist Monastic Terms" (Based on Pali Literature), Nava Nalanda Mahavihara, Nalanda.
2. Sankrityayan, Rahul, (1994), "Vinaya Pitaka", Bauddha Akar Granthamala, Kashi Vidyapita, Varanasi.
3. http://wattampainenglish.com/test/13 special-events/holidays/22-end-of-buddhistlent.html.
4. https://en.m.wikipedia.org>wiki>kathina.

Bodhi Path, July 2018 Issue 15
ISSN 2347-8004

Locating the Icon and the Image – Contextualising Buddhist Art and Patronage of Prasat Phimai in Northeast Thailand

Sama Haq
PhD Research Scholar
Department of History of Art
National Museum Institute
New Delhi

The Phimai Historical Park is situated in the centre of Phimai city which is surrounded by an ancient moat in the Korat Province of Northeast Thailand (Plate 1). Prasat Phimai stands as a distinct reminder of the intermingling of Buddhism and Hinduism that continues to survive in Thailand till today. The aim of this paper is to study the iconographic, and iconological aspects of select narrative reliefs on the lintels and of few sculptures – ascribing to Mahayana Buddhism and esoteric practices in Thailand. Phimai was the extent of the ancient Khmer empire from the 10th-13th centuries CE. The Phimai Temple was built under the patronages of Khmer King Jayavarman VI (1080-1107 CE) till the reign of King Jayavarman VII (1181-1218 CE). Today, it is the largest Buddhist sanctuary in Thailand built by Khmer rulers and its construction is analogous to the building of the colossal Khmer structure of Angkor Wat in Cambodia.

The Phimai Historical Park is approached from the southern gate, which is also the largest gateway. The Phimai temple complex can be architecturally divided into three broad sections, which includes the main temple with two subsidiary shrines, namely Prang Hin Daeng and Prang Phromathat. Prang Phromathat was built later during the reign of Jayavarman VII as it houses his sculpture along with his queen. The temple has lintels based on the Buddha's life, depiction of esoteric Buddhist deities along with an image of the Buddha Mucalinda in the *garbha gṛha* as well as Hindu representations of the *Rāmāyana* on the lintels and pediments outside the temple.

It is certain that Mahayana Buddhism was not the state religion during the 11th century CE, yet it was widely patronised by the local Khmer kings till the reign of Jayavarman VII (1181-1218 CE), who converted to Buddhism. Inside the Phimai temple, in the *garbha gṛha*, the sculpture of Buddha Mucalinda is surrounded by ornately carved lintels of Buddha's enlightenment, Buddha's first sermon, and esoteric depictions of Vajrasattva and Trailokyavijaya. Further, sculptures of Hevajra, Prajñāpāramitā and Bhaiṣajyaguru found from the temple and nearby regions establish a prevailing esoteric cult thus, linking the central Khmer kingdom with the border areas which now lies in Northeast of Thailand.

The role of 'icon' and 'image' in order to understand Prasat Phimai's religious and historical importance to understand the extent of Khmer art and archaeology. The word 'icon' refers to a pictorial representation, a sign related to a referent or an object whereas the word 'image' means a representation of the external form, an imitation and likeness. At Phimai, the role of icon and image can be understood by analysing its visual data. As mentioned above, the various deities seen inside the temple represent the iconic measure of the temple, whereas Phimai's image, at large, belongs to a wider context of Buddhism. The narrative and Buddhist sculptures found from the site establishes the icons as a mode of worship at Phimai; by subsuming Hindu ideologies of the Khmer kings within its fold, the local Buddhist rulers at Phimai established the temple's image as a centre for Mahayana Buddhist practice and esoteric rituals.

A Look at the Icon and the Image through select Lintels and Sculptures at Prasat Phimai:

Plate 1: Aerial view of the Prasat Phimai. After, *The Aerial Views of Seven Khmer Sanctuaries in Thailand.*

1. The Assault of Māra (Plate 2)

From the main entrance on the southern side, the first lintel is of a pre-enlightenment event, wherein the Buddha is vanquishing Māra (personified as a demon) upon his enlightenment. The subject matter of this episode is widely known as Enlightenment of Buddha or Temptation of Māra in Indian art whereas in Thai and Khmer art in Southeast Asia, this event is also known as *Marāvijaya*[79] or also known as the Buddha's victory over Māra. In the art historical context, the spatio-temporal setting of this scene places the Buddha in the centre under a Bodhi tree, while making a *bhūmisparśa mudrā* or touching the earth gesture to call upon Bhu devi (earth goddess) to witness his enlightenment. To prevent the Buddha from gaining *abhisambodhī* or supreme-enlightenment, Māra castes upon him an army of fierce animals, wrathful beings, and his own daughters to enchant and deter the Buddha from his resolution, as also mentioned in the *Aṅguttara Nikāya*.

[79] Piriya Karairiksh. *The Roots of Thai Art*. Trns. Narisa Chakrabongse (Bangkok: River Books, 2012), 316.

The original *Māravijaya* lintel of Prasat Phimai is at present housed in the Phimai National Museum while a replica is placed *in-situ*. The lintel is divided into two sections. The lower section is haphazardly arranged with a chaotic depiction of a battle scene. Even though the lintel is badly damaged, one can still understand the chaos of the lower section in the light of this event. A three-headed multi-armed figure can be seen riding an elephant, a lion and a *garuḍa* on either side to depict the various animals aiding Māra during his conquest. Māra's and his army are depicted while attacking the Buddha from attaining enlightenment as visible through the charging swords and spears. On the top register, the Buddha is seated in the centre, he is surrounded by heavenly beings who have come to pay homage to the him. The contrasting emotions of the temptation of Māra as well as the Buddha's attainment of enlightenment is visually and spatially created by dividing the lintel into two modes of depiction.

Plate 2: Assault of Mara, Lintel, Prasat Phimai. © Sama Haq

2. Buddha's First Sermon (Plate 3)

The lintel on the western doorway of the *garbha gṛha* has a standing Buddha image in the centre flanked by many devotees and rows of musicians and attendants. Scholars are of different opinions whether this lintel depicts the first sermon given to a group of *paṇcvargiya bhikkūs* in Mṛgdāva at Iśipatana or a representation of funerary rights and rituals as the ascetics are also seen holding caskets.[80] The Phimai lintel shows the Buddha in the centre in a hieratic order under a wide arching and ornately carved Bodhi tree. He is surrounded by a number of bearded ascetics who are seated in a cross-legged manner, a depiction widely seen at Angkor-Wat as well. These seem not to be the *paṇcvargiya bhikkūs* as they are more than five.

In the centre of the top register, the standing image of a bejewlled Buddha has been interpreted as the apocryphal figure of Jambupati. According to the early interpretations by the French and Thai scholars, George Cœdès and Manit Valibhotama[81], the legend of the Jambupati is placed during the reign of the famous Buddhist King Bimbisara. The

[80] Hiram Woodward. *The Art and Architecture of Thailand – From Prehistoric Times through the Thirteenth Century* (Netherland: Brill and Leiden Publication, 2005), 150-151.

[81] Manit Vallibhotama. *Guide to Phimai and the Antiquities in the Province of Nagara Rajasimha*. Trns. by Subhadradis Diskul. (Bangkok: The Fine Arts Department, B.E. 2505), 44.; Piriya Krairiksh, 311.

legend ascribes to the Buddha magically changing his monastic robe into a royal regalia, in the likeness of a wealthy king, to confound an arrogant king, Jamubudeva. Seeing the Buddha's stature as the *rājādhirāja*, the proud king abdicates his throne and joins the

Plate 3: Buddha's first sermon, Lintel, Prasat Phimai. © Sama Haq

saṇgha.[82] The legend of Jambupati, apparently unknown in India, was originated in 14th century CE in the Pyu kingdom of Burma, which practised Theravada Buddhism and is definitely later than the Phimai lintel. Hence, the Buddha figure can also be understood as a crowned Buddha image as prevalent in Thai and Cambodian art and Southeast Asian art at large.

3. Trailokyavijaya (Plate 4)

Plate 4: Trailokavijaya, Lintel, Prasat Phimai. © Sama Haq

The southern lintel inside the temple has a narrative frieze of Trailokyavijaya, as also mentioned in the southern doorway inscription K.397, '*Kamrateng Chakata Senapati Trilokavijaya'* or Trailokyavijaya – the Universal Ruler and Commander.[83] In the long list of wrathful deities worshipped as destroyers of obstacles, Trailokyavijaya is known by various epithets such as *vidyārājā, mahākrodharājā, krodhavighnāntaka* etc.,[84] befitting his stature as a major guardian deity for the protection of esoteric Buddhism. As

[82] Carol Stratton. *Buddhist Sculptures of Northern Thailand* (Thailand: Silkworm Publications, 2004), 58.
[83] Hiram Woodward., 147.
[84] Rob Linrothe. *Ruthless Compassion: Wrathful Deities in Early Indo-Tibetan Art* (London: Seri India Publication, 1999), 19.

mentioned in the *sādhanā* 262 of the *Sādhanamālā*, in his hands, he holds a *vajra* and a *ghanta*, which are also symbolic of his firmness of mind and resolution.[85]

According to the *Sarvatathāgatatattvasaṃgraha Tantra*, written around 7th century CE, Trailokyavijaya, as an emanation of Vajrapāni, is shown as unfeelingly looming over the

Plate 5: Jayāvarman VII, Prang Phromathat, Prasat Phimai. © Sama Haq

Hindu gods Śivā and Pārvatī.[86] The lintel is divided into two equal halves. An image of a dancing Trailokyavijaya divides the frieze in the centre, dancing on a corpse. On the upper register, there is a band of five *dhyāni* Buddhas in different niches. On the lower register, two attendant figures or subsidiary deities surround him with similar attributes in their hands. Accompanying them is a group of *yoginīs* dancing on corpse(s). Jean Boisselier is of the opinion that the dancing figures in the lintels at Phimai depict the dancing *yoginīs* or a growing *yoginī* cult at Phimai, pertaining to esoteric Buddhist practices. [87] Peter Sharrock states that the *yoginīs* are not mere decorative ornamentations of the temple structure, they belong to Phimai as "the key intercessors" of an already growing esoteric Buddhist cult of Khmer art in the Northeast Thailand.[88]

4. Jayavarman VII (Plate 5)

Apart from the Buddhist narrative friezes inside the temple complex at Prasat Phimai, few Khmer Buddhist sculptures have also been found from the adjoining shrines within

[85] Benoytosh Bhattacharya. ed,. *Sādhanamālā, Vol. I, Gaekwad's Oriental Series* (Baroda: Central Library, 1925), 79.; Benoytosh Bhattacharya. *The Indian Buddhist Iconography Based on the Sadhanamala* (Calcutta: K.L. Mukhopadhyay, 1958), 184.

[86] Lokesh Chandra. *Dictionary of Buddhist Iconography, Volume-12* (New Delhi: Aditya Prakashan, 2002), 3645.

[87] Jean Boisselier. *Asie du Sud-est : Le Cambodge* (Paris: Picard, 1966), 304-305.

[88] Peter D. Sharrock. 'The Yoginis of Bayon' in *Yogini in South Asia: Interdisciplinary Approaches* edited by István Keul (London: Routledge, 2013), 121.

the Phimai temple complex. Sculptures found from the subsidiary shrine of Prang Phromathat is of significant value as it depicts a robust portraitures of the King Jayavarman VII and his consort, Queen Jayārājadevī.[89] The shrine was built during the reign of King Jayavarman VII who became the first Khmer king to establish Buddhism as the state religion. Under his patronage, esoteric Buddhism flourished throughout the Khmer territory with the ambitious building program such as at Preah Khan, Bayon, Ta Prohm, Banteay Kdei, etc. in Cambodia.

Plate 6: Jayārājadevī, Prang Phromathat, Prasat Phimai. After, *Journal of Siam Society, Vol XVII*.

Following the Indian *devarāja* cult, the Khmer King, Jayavarman VII came to be identified as a deified manifestation of Buddha Lokeśvarā or Lokeśvarārāja in Khmer art and archaeology. To continue with the religious and political lineage, Jayavarman VII ascribed his family with the Mahāyāna Buddhist pantheon during his lifetime, which was almost at par with the previous Hindu rulers. He is famous to have consecrated his father as Bodhisattva Avalokiteśvara, his mother as Prajñāpāramitā (goddess of wisdom and compassion), Queen Jayārājadevī as Goddess Tārā (the savior). Inside his shrine, the portrait sculpture of Jayavarman VII is facing the Phimai temple, he is seated in a *samādhī* on a high yet very crudely executed pedestal. Due to broken arms, it is difficult to understand the hand gestures of the Jayavarman sculpture. The sculpture speaks of a simplistic, detached persona of the god-king and is similar to the sculptures of Jayavarman VII commemorating esoteric Buddhist temples as seen in the Phnom Penh Museum sculpture as well.

[89] Christoph Pottier. 'Le Rois dans le temple : le cas de Jayavarman VII, de Phimai à Angkor'. In *Bulletin D'Études Indiennes*, N°3, 2015. France : Association Française Pour Les Études Indiennes, 2015, 426-428. ; Major Erik Seidenfaden. 'An Excursion to Phimai – a temple city in the Khorat Province'. In *The Journal of the Siam Society*, Vol XVII. Bangkok: Thailand Research Society, 1969), 11-12.

5. Jayārājadevī (Plate 6)

French archival records of the restoration in Prasat Phimai mentions another sculpture of Queen Jayārājadevī found along with the sculpture of Jayavarman VII inside Prang Phromathat. In the royal court of Jayavarman VII, Queen Jayārājadevī was personified as Goddess Tārā, the goddess of wisdom and compassion. With the growing Lokeśvarā cult, the benevolent qualities of Goddess Tārā were assimilated with Prajñāpāramitā cult, the mother of all wisdom and compassion. Although, Jayavarman VII consecrated his mother as an embodiment of Prajñāpāramitā, his Queen Jayārājadevī also came to be associated with this aspect, as seen in inscriptions and royal portraits found from Khmer temples. In Khmer art, Goddess Tārā shares similar iconographic attributes with Prajñāpāramitā, such as they both hold a lotus and sacred text in either hands with an effigy of a Dhyāni Buddha on their coiffure. In India, the earliest representation of Prajñāpāramitā dates back to her sculptures in the Ellora Caves during 7th century CE making *vyākhyāna mudrā* or the teaching gesture through her right hand and holding a lotus with a manuscript in the left hand.[90] In the Phimai sculpture, the queen is sitting, kneeling down and praying as compared to a *sattva-paryanka* or cross-legged *āsana* of Prajñāpāramitā's iconography. She is wearing a *sarong* with a typical Bayon style fish-tailed sash fastened with a broad girdle belt while her upper body is bare. She has an effigy of Amitābha Buddha on her conical *uṣṇīṣa* which is made up of tiered rows of lotus petal as an iconographical detailing of her royal portraiture.[91]

To conclude, Phimai sits at the crossroads of Buddhist-Hindu practices prevalent during the reign of Jayavarman VI and VII. The overlapping of these traditions had opened a religio-philosophical dialogue in the mainland as well as the northeast frontier of the Khmer territories. Through a survey of the lintels and the sculptures, the paper has shed light on the significance and religious orientation vis-à-vis the esoteric Buddhist practices at Prasat Phimai. The temple continues its legacy as one of the earliest Mahayana Buddhist temples under Khmer kingship and patronage in the northeast of Thailand. The depiction of key events associated with Buddha's life events, the esoteric Buddhist deities, and the royal portraits represents the growing interest in Buddhist values and its ritual aspects. Apart from iconographic and epigraphic interpretations of Phimai's icons and images, a symbolic understanding of Prasat Phimai is also undertaken by assimilating the narratological evidence of the sculptural tradition.

*This paper is a part of the author's ongoing doctoral research on '*Prasat Phimai: an Art Historical Study of a Khmer Buddhist Temple of Northeast Thailand (11th – 13th Centuries CE)*' supervised by Prof. (Dr.) Anupa Pande, Head, Dept. of History of Art, Pro-Vice Chancellor, National Museum Institute, India, and co-supervised by Dr. Cheda Tingschanchali, Associate Professor, Faculty of Art History and

[90] Miranda Shaw. *Buddhist Goddesses of India*. (New Jersey: Princeton University Press, 2006), 172.
[91] Piriya Krairiksh. *Khmer Bronzes - A Selection from the Suan Phka Tevoda Collection* (Bangkok: Cornèr Bank, 1981), 35.

Archaeology, Silpakorn University, Bangkok, Thailand. The author would like to thank her supervisors for their constant support and guidance.

Bibliography:

- Bhattacharya, Benoytosh. ed. *Sādhanamālā,* Vol. I, Gaekwad's Oriental Series. (Baroda: Central Library, 1925.
- *The Indian Buddhist Iconography Based on the Sadhanamala*. Calcutta: K.L. Mukhopadhyay, 1958.
- Boisselier, Jean. *Asie du Sud-est : Le Cambodge*. Paris: Picard, 1966.
- Chandra, Lokesh. *Dictionary of Buddhist Iconography,* Volume-12. New Delhi: Aditya Prakashan, 2002.
- Keul, István. *Yogini in South Asia: Interdisciplinary Approaches*. London: Routledge, 2013.
- Krairiksh, Piriya. *Khmer Bronzes - A Selection from the Suan Phka Tevoda Collection*. Bangkok: Cornèr Bank, 1981.
- *The Roots of Thai Art*. Translated by Narisa Chakrabongse. Bangkok: River Books, 2012.
- Linrothe, Rob. *Ruthless Compassion: Wrathful Deities in Early Indo-Tibetan Art*. London: Seri India Publication, 1999.
- Miranda Shaw. *Buddhist Goddesses of India*. New Jersey: Princeton University Press, 2006.
- Pottier, Christoph. *Bulletin D'Études Indiennes*, N°3, 2015. France : Association Française Pour Les Études Indiennes, 2015.
- Seidenfaden, Major Erik. *The Journal of the Siam Society*, Vol XVII. Bangkok: Thailand Research Society, 1969.
- Stratton, Carol. *Buddhist Sculptures of Northern Thailand*. Thailand: Silkworm Publications, 2004.
- Vallibhotama, Manit. *Guide to Phimai and the Antiquities in the Province of Nagara Rajasimha*. Translated by Subhadradis Diskul. Bangkok: The Fine Arts Department, B.E. 2505.
- Woodward, Hiram. *The Art and Architecture of Thailand – From Prehistoric Times through the Thirteenth Century*. Netherland: Brill and Leiden Publication, 2005.

PERSONALITY OF HUMAN BEING & HIS DESTINITY IN BUDDHISM

Dr. Seema Bharti

Deptt of Buddhist Studies

University of Delhi, Delhi-7

E-mail : smbharti4@gmail.com

PERSONALITY OF HUMAN BEING

The personality of human being in *Upaniṣada* is made up of sixteen parts (S*oḍaśakalā* in skt). These sixteen parts are given as follows:

i) Five organs of action (*karmendriya*),

ii) Five organs of knowledge (*jñānendriya*),

iii) Five vital breaths (*pañca-prāṇa*), and

iv) A mind (*manas*).

With respect to all these parts, the soul is known as sixteen-part self (*Ṣoḍaśakalā-puruṣa*). [92] In the *Upaniṣada* this '*Puruṣa*' is known as nineteenth mouthed-person (*ekonvin -śatimukhaḥa*). [93] Here mind is considered four fold viz., *manas*, *buddhi*, *citta* and *ahaṅkāra*. This whole division of the personality, in fact, forms types of bodies of human personality as - the physical and the psychic. The physical body consists of the five organs of action and five organs of knowledge. The psychic body consists of the four fold mind (*manas*, *buddhi*, *citta* and *ahṅkāra*), which in the *Upaniṣada* is known as *Jīva*.[94]

Jainas believe that the *Jīva* out of ignorance indulges into four passion. These four passions are as follows - anger (*krodha*), greed (*lobha*), pride

[92] Chanḍogya Upniśada., VI, 71.
[93] Munḍaka Upniśada., 3-4.
[94] Chanḍogya Upniśada., VI, 3.2, 8.1.

(*māna*) and delusion (*māya*). These are known as '*Kaṣāya*' or '*bhāvakarman*'. Due to these *kaṣāya* or *bhāvakarman* in the *Jīva*, the *kārmika* matter sticks to the soul and develops for him mind, senses and body according to his previous merits or demerits. The flow of matter to the soul is known as '*Āsrava*'. This is how a *Jīva* acquires a personality.[95]

According to *Sāṅkhya* philosophy the physical body of a person is formed by five elements - earth, water, fire, air and ether and psychic body is formed by *mahattattava* (intellect), *ahṅkāra* (ego), *manas* (mind), five sense organs, five motor organs and five *tanmātrās*. This aggregate is known as subtle body (*Aṅga Śarīra* or *Sūkṣma Śarīra*). This continues life after life till the man realizes the truth.[96]

The theory of *Cārvāka* explains that the personality of human is made of four elements - the earth, water, five and the air. They ignore the fifth element space as null and void which is considered in *Upaniṣada*. All these four elements of matter combined together in a particular way to give rise to the human body having consciousness. Consciousness ceases apparently with the body. Thus body, qualified with consciousness, is the personality according to *Cārvākās*.

In Buddhism, there is no soul or self. Then what we are? The Buddha answers that we are composed of five *skandhās*, which can be translated as aggregates.

The Buddha identifies five aggregates by which the personality of human being has been constructed. These five aggregates are given as -

1) Matter (*Rūpakkhandha*)

2) Sensation or feeling (*Vedanākhandha*)

3) Perception (*Saññākkhandha*)

4) Mental constituents (*Saṅkhārakkhanda*)

5) Consciousness (*Viññānakkhandha*)

In *Pāli* connon, in the *Anattalakkhana Sutta* is found in *Saṁyutta Nikāya*. The discourse is found in *Saṁyutta Nikāya* as - feeling ... perception ... consciousness are not the self.[97]

---

[95] Sharma, Adarsha, *Personality in the Bhagwad Gītā*, Adarsh Publication, Sonepat, 2000 : 1.13.

[96] Ibid.: 1.28.

[97] Saṁyutta Nikāya., III., p. 67.

The human personality could be accounted for only by recognizing a spiritual substance different from the physical body (*aññaṃ jīvaṃ aññaṃ sarīraṃ*). For other, only a sensibly identifiable physical body (*taṃ jīvaṃ taṃ sarīraṃ*) was required when the Buddha rejected the self as a spiritual substance, he was perceived as someone who, like the latter group, advocated the annihilation of a really existing conscious person.[98]

Midway between the '*Puruṣa*' (soul) of the *Upaniṣads* and the *Puggala* (person) of the *Nikāyās* is the expression '*Purisa Puggala*'. The term 'Pudgala' is usually translated as 'soul', but in reality Pudgala is here synonymous with a personality, an ego, a self, an individual, a living being, a conscious agent. Ordinary Pudgala means a living being who is badly associated with *Kāma*, *Rūpa*, *Lobha*, *Ahaṅkāra*, *Moha* (desire, form, greed, egohood and delusion), and sensitive factors. Buddhism never denied this existence of a personality or Pudgala in the empirical sense. It includes the mental elements, the physical body and external objects as far as they constitute the experience of a given personality. The representations of 18 *Dhātus* or the classes of elements combine together to produce this inter-connected stream. There is a special force called '*Prāpti*', which holds these elements combined. It operates only within the limits of a single stream and not beyond. This stream of elements kept together and, not limited to present life, having its root in past existence and its continuation in future ones, is the Buddhistic counterpart of the soul or the self of other systems. There is no spiritual substance apart from the mental elements or faculties that are conceived as subtle realities. There is no soul apart from feelings, ideas and volitions.[99]

DESTINY OF HUMAN BEING

To this question, there are so many ideas have been given by different thinkers. Among them, there three are accepted by many. These three are as - theism, fatalism and accidentalism.

Theism believes in God or supernatural power. It attributes our identity to God's power. God is the one who creates our life and design every event that happens in our life. Therefore, whatever happens in our life, whether it is good or bad, is created by God or by will of God. Only God has the power to change our destiny. We, as human being, have no power to change our life or our destiny. We have no rely on God to change our

[98] Kalupanana, David J.,*A History of Buddhist Philosophy*, Motilal Banarsidass, delhi, 1994 : 68.

[99] Pathak, Mandarnath, *Human Life and Teaching of Buddha*, Antique Publications, new delhi : 103.

destiny. It is this reason what we must prey God for his mercy.

Fatalism upholds that our present life is predetermined. They believe life is predetermined. They believe that every event that happend, is absolutely predetermined. It is fate whether one is rich or poor, fortune or misfortune. Under this view, we have no hope to change our destiny. What we can do is just to accept our life because that it our fate.

Accidentalist promulgates that everything that happens in all by accident. There is neither God's will nor fate. Just as leaves that fade during the autumn. When the wind blows, some may fall in the middle of sweet flowers or in stinking pit, they are happening by accident. So is our destiny. By chance, some may be luckily born in the noble families and some may be unfortunately born in the humble families. In a word, fortune or misfortune is just by accident. There is no other power behind them. Under this we are nothing to do with our destiny.

The above three view; we find hard to accept because all these three views are negative. They all deny our power to turn our lives. In this regard, Buddhism provides an answer which is positive and reasonable. According to the Buddha human destiny is neither controlled by God nor predetermined nor by accident. However, the Buddha said, *Kamma* is primary cause of our present life, or to a certain extent, we may say that it is *Kamma* that determines human life and his destiny.

The destiny of every individual is determined by what he is and by what he does; and what any individual is to be or to do is determined by what he is living for, thinking for or working for. Plan is not being made by some outside force. Man is making himself with the power of those forces and elements that he employs in his thought and his work; and in all his efforts, physical or mental, he invariably follows his ideals.

The word 'destiny', used in religion has its application to the sole's discipline and to the goal which such a discipline implies along with its reference to the Divine Being apart from whom any exposition of it in a scheme of the religious interpretation of reality becomes divested of all its meaning and reduced to a mere platitude. 'Destiny' sometimes stands for 'providence' in which sense it indicates the ultimate reality, the ground or principle which ordinary things to exist or happen as they ordinarily do.[100]

The destiny of a man is depends on the Karma directly according to the Buddhism. In the *Milinda Pañha*, we find *Nāgasena* saying "it is through

[100] B.P., Vidhyarthi, *Divine Personality & Human Life in Ramanuja*, Pataudi House, Daryaganj, New Delhi, 1978 : 197.

a difference in their karma that men are not all alike, but some handsome and some ugly, some powerful and some weak, some rich and some poor, some of high degree and some of low degree, some wise and some foolish."[101] Karma produces its effect in this life or any other life only when there is covetousness, antipathy and infatuation. But when a men's deed are performs without covetousness, arise without covetousness and are occasioned without covetousness, then in as much as covetousness is gone these deeds are abandoned, uprooted, pulled out of the ground like a palmyra tree and become non-existent and not liable to spring up again in future."[102]

Karma by itself without craving (*taṇhā*) is incapable of bearing good or bad fruits. It is given in the *Mahāsatipaṭṭhāna Sutta* - "even this craving, potent for rebirth, that is accompanied by lust and self-indulgence, seeking satisfaction now here, now there, to wit, the craving for the life of sense, the craving for becoming and the craving for not becoming." "Craving for things visible, craving for things audible, craving for things that may be smelt, tasted, touched, for things in memory recalled. These are the things in this world that are dear, that are pleasant. There does craving take its rise, there does it dwell. "[103]

Just because of ignorance man has a desire for worldly things and he think that it is destiny to get the desirable thing. In the Second Noble Truth Buddha says, there are three types of desire or craving (*taṇha*) -

i) *Kāma-taṇhā* (craving for sense pleasure)

ii) *Bhava-taṇhā* (craving for existence and becoming)

iii) *Vibhava-taṇhā* (craving for non-existence)

As the third type suggests, it is just as wrong to crave no further rebirth as it is to crave being. It is best to remain detached from either rebirth or being.[104] As long as there is this 'craving' to be and become, the cycle of continuity (*Saṁsāra*) of suffering (*dukkha*) goes on. That is the ground why the Buddh say, "verily it is the utter passionless cessation of, the giving up, the for shaking, the release form, the absence of longing for the craving (*taṇhā)*."[105] Craving is closely connected to grasping (*upādāna*)

[101] Dasgupta, Surendranath, *A History of Indian Philosophy*, Vol. I , Motilal Banarsidas, Delhi : 107.
[102] Ibid., (Dīgha Nikāya-ii p. 308-309).
[103] Ibid.
[104] Olson, Carl., *The Different Paths of Buddhism A Narrative Historical Introduction*, Rutges University press, New Brunswick, New Jersey and London, 2005 : 53.
[105] Saṁyutta Nikāya, IV, p. 42.

in the sense of attachment to the objects one is grasping. In other words, grasping is the fuel that keeps the fire burning. Grasping also plays a more subtle part in the process of causation because it involves an emotional investment in the object of its focus. As the fuel of craving (*taṇhā*), grasping (*upādāna*) forms the bridge between consciousness and rebirth by providing the means by which *Kamma* and conscious energy pass to a new mode of existence.[106]

Buddhism says that *Kamma* is the cause of our destiny. Here a question may arise that could our destiny be changed? Buddhism replied positively to answer this question. According to Buddhist theory of *Kamma*, we often hear that - "do good, be good; do bad, be bad" and "what you sow, what you reap." This is the essential principle based on which the law of *Kamma* operates. According to this principle, to a certain extent, we can say that our present life is a result of our past *Kamma*, or our destiny is determined by our past *Kamma*. However, this does not mean that every event that happen in our present life is absolutely a result of our past *Kamma*. Determination is hold by fatalism and is strongly rejected by the Buddha. If everything that happens in our present life is absolutely a result of our past *kamma*. Then, there is no hope for us to change our destiny and it is also meaningless for us to practice *dhamma* in order to obtain a better life in future because everything is predetermined.

The law of *kamma* taught by fatalism is somewhat mechanical because it is established on the basis of single cause and single effect. However, it becomes flexible when this law is interpreted by the Buddha in connection with the doctrine of dependent origination. According to this doctrine, everything is conditioned or coexisted. There is nothing that comes to being under one single cause or condition. This is to say that a past *kamma* could be a cause of a present effect. However, without causal conditions, the effect does not always take place.

In *Pāli* text it is said in *Loṇaphala sutta*[107] of *Aṅguttara Nikāya* that if we put a handful of salt into a bowl of water, the water may become salty; but if we put the same amount of salt into the ocean, the water in the ocean will not become salty because of the great amount of water. Although we create evil deeds in the past, if we do good deeds right now on, we may be avoided of evil result as the stored merit becomes greater.

Buddhism says that a person can change his destiny by his own deeds. The Buddha says that man suffer from different kinds of miseries.

[106] Olson, Carl., Op.cit.: 48.
[107] Aṅguttara Nikāya, III, p. 99.

These miseries depend on some conditions. If these conditions are removed, misery would cease. It should be noted that liberation from misery is a state attainable here in this life, if certain conditions are fulfilled. When the perfect control of passions and constant contemplation of truth lead a person through the stages of concentration to perfect wisdom, he is no longer under the sway of worldly attachment. He has broken all fetters that bound him to the world. He is, therefore, free or liberated. He is said to have become *Arhat*. *Arhat* means a venerable person. The state of *Arhatship* is more properly known as *Nirvāṇa* which means the extinction of passions and also misery.[108]

Nirvāṇa is the only real destiny awaiting humanity, for it is the only escape from conditioned existence. That which is conditioned is phenomenal; that which is phenomenal can be perceived, defined and measured. It is subject to the limitations to time and space. That which is within the limit of time and space is necessarily transient and subject to the law of change. That which is subject to the sovereignty of the law of change is not happy or secure from danger, because it is impermanent. The ultimate object of man is not to achieve what is impermanent, but that which is everlasting, what is everlasting must be beyond all conditions and limitations; it is absolute. Hence *Nirvāṇa* is indefinable and immeasurable.[109]

[108] Pathak Mandar Nath, Op.Cit.:160.
[109] Ibid.: 167.